वर्ष : 48, अंक : 1
जनवरी-फरवरी 2025

गगनाचल

साहित्य, कला एवं संस्कृति का संगम

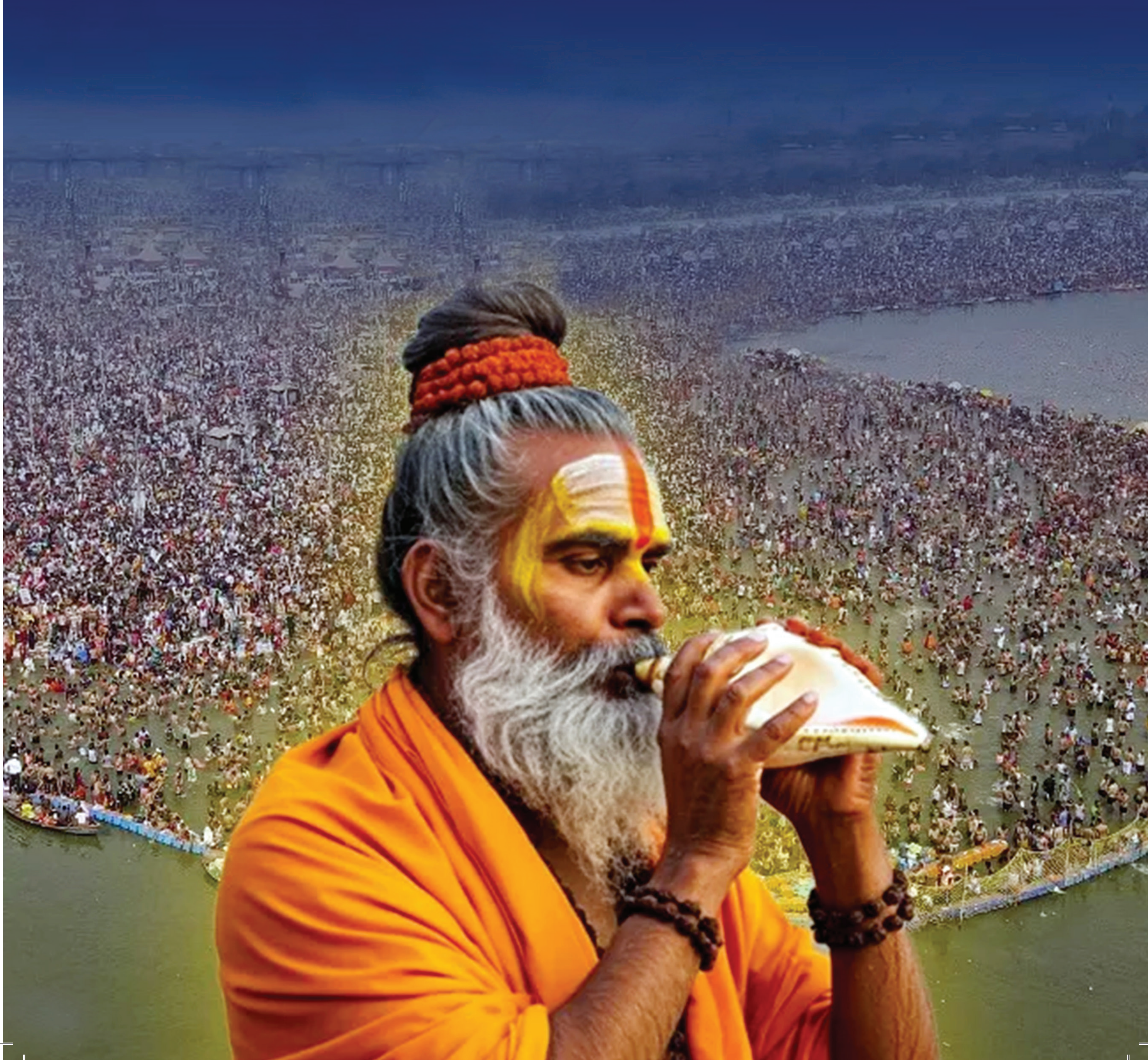

आगामी अंक

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की स्थापना के 75 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में गगनांचल का आगामी अंक विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया जाएगा। इसके विषय एवं उपविषय निम्नानुसार हैं :-

(i) परिषद की ऐतिहासिक यात्रा :-

(क) परिषद की स्थापना की संकल्पना और उसके प्रणेता

(ख) परिषद का संक्षिप्त इतिहास

(ग) परिषद के अध्यक्षों और महानिदेशकों के योगदान

(घ) विश्व भर में सांस्कृतिक केंद्रों की स्थापना और उनकी भूमिका

(ङ) आंचलिक/उप आंचलिक कार्यालयों की स्थापना और उनकी भूमिका

(ii) वैश्विक सांस्कृतिक संबंधों में परिषद की भूमिका :-

(क) परिषद का उद्देश्य और विजन

(ख) परिषद की कार्यप्रणाली और मिशन

(ग) सांस्कृतिक कूटनीति में परिषद की भूमिका

(iii) महत्वपूर्ण प्रयोग और गतिविधियां :-

(क) भारतीय संस्कृति के वैश्विक प्रसार में परिषद के प्रयास

(ख) हिंदी के शोध में परिषद की भूमिका

(ग) नई पहलें और नवाचार

(घ) सांस्कृतिक आदान-प्रदान कार्यक्रम और उनकी सफलता की कहानियां

(iv) परिषद के कार्यों का अनुभव :-

(क) परिषद के कार्यों का प्रभाव और अनुभव

(ख) परिषद के साथ काम करने वाले व्यक्तियों और संस्थाओं के अनुभव

(v) शिक्षा और अनुसंधान :-

(क) परिषद द्वारा संचालित शैक्षिक कार्यक्रम और छात्रवृत्तियां

(ख) अनुसंधान परियोजनाएं और उनके परिणाम

(ग) भारतीय संस्कृति और सभ्यता पर किए गए महत्वपूर्ण अनुसंधान कार्य

(vi) सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण और प्रचार :-

(क) परिषद द्वारा किए गए प्रयासों का विवरण

(ख) पारंपरिक कला और शिल्प को बढ़ावा देने में परिषद की भूमिका

(vii) अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और साझेदारी :-

(क) परिषद के साथ विभिन्न देशों और संगठनों के सहयोग की कहानियां

(ख) संयुक्त सांस्कृतिक कार्यक्रम और परियोजनाएं

(viii) भविष्य की योजनाएं और दिशा:-

(क) परिषद की आगामी योजनाएं और परियोजनाएं

(ख) भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए नए दृष्टिकोण और रणनीतियां

(ix) परिषद के प्रकाशन और साहित्यिक योगदान:-

(क) परिषद द्वारा प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तकें और पत्रिकाएं

(ख) परिषद के साहित्यिक योगदान का विवरण

(x) परिषद के साथ जुड़े प्रमुख व्यक्तित्व :-

(क) परिषद के साथ जुड़े प्रमुख व्यक्तित्वों के अनुभव और योगदान

ISSN: 0971-1430

वर्ष : 48, अंक : 01 जनवरी-फरवरी 2025

गगनाचल

साहित्य कला एवं संस्कृति का संगम

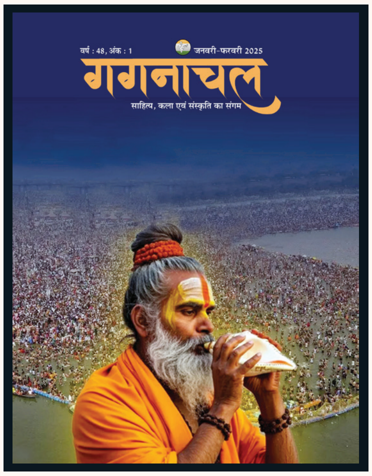

प्रकाशक

के. नंदिनी सिंगला
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

संपादक

रवि शंकर

प्रकाशन सामग्री भेजने का पता

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002
ईमेल :
pohindi.iccr@nic.in

गगनांचल अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध
http://www.iccr.gov.in/Publication/Gagananchal
पर क्लिक करें।

सदस्यता शुल्क

वार्षिक
₹ 500, यूएस $ 100

त्रैवार्षिक
₹ 1200, यूएस $ 250

उपर्युक्त सदस्यता शुल्क का अग्रिम भुगतान 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

मुद्रण : सीता फाईन आर्ट्स प्रा. लि.

अनुक्रम

प्रकाशकीय

5 **भारतीय संस्कृति का महाआयोजन कुंभ**
के. नंदिनी सिंगला

संपादकीय

6 **भारतीय ज्ञान का प्रतीक है कुंभ महापर्व**
रवि शंकर

कुंभ विशेष

7 **कुम्भ : नक्षत्रों का अमृत मेला**
डॉ. मधुसूदन उपाध्याय

9 **भारतीय संस्कृति में कुंभ**
अमिय भूषण

14 **सर्वसिद्धिप्रद कुंभ का इतिहास और विज्ञान**
गौरीशंकर वैश्य विनम्र

18 **कुम्भ मेला : संचार-संवाद का महापर्व**
लोकेन्द्र सिंह

23 **भारत की आध्यात्मिक विरासत है महाकुंभ**
कर्म सिंह

गगनांचल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुमति दी जा सकती है। अतः प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। गगनांचल में व्यक्त विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद की नीति को प्रकट नहीं करते। प्रकाशित चित्रों की मौलिकता आदि तथ्यों की जिम्मेदारी संबंधित प्रेषकों की है, परिषद की नहीं।

अनुक्रम

गगनांचल
साहित्य, कलाएं व संस्कृति का संगम
वर्ष : 48, अंक : 01, जनवरी-फरवरी 2025

साहित्य

29 **साहित्य व संस्कृति में हिंदी**
डॉ. संध्या सिलावट

34 **विश्व हिंदी दिवस के संकल्पक शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव**
डॉ. अर्चना त्रिपाठी

39 **समकालीन हिंदी कविता में पृथ्वी और मानवेतर संवेदना**
प्रोफेसर विनोद कुमार मिश्र, रजनीश कुमार

46 **1857 की क्रांति और भारतीय साहित्य**
प्रो. पवन कुमार शर्मा, प्रो. गौरव सिंह

54 **भारतेन्दु युग में राष्ट्रीयता का स्वरूप**
मनोज कुमार गुप्ता, डॉ. सुशीला लड्ढा

59 **हिन्दी और मलयालम समस्या नाटकों में समभाव**
डॉ. अनीश के .एन.

62 **क्षमा कौल की कहानियों में कश्मीरी जीवन का यथार्थ**
अमन सिंह

विश्ववारा संस्कृति

67 **दक्षिण पूर्व एशिया में शैव संस्कृति का प्रसार**
डॉ. अर्हणा लोचन

व्यक्तित्व

74 **उपन्यासकार गुरुदत्त की राष्ट्रीय दृष्टि**
डॉ. देवी प्रसाद तिवारी

78 **हिन्दी साहित्यकारों की स्मृति में रवीन्द्रनाथ**
घंघुरू परमार

पुस्तक परिचय

84 **मानवीय संवेदनाओं को उकेरती 'टूटी पेंसिल'**
पूजा

कहानी

89 **उसका अस्सीवाँ जन्मदिन**
अर्चना पैन्यूली

कविताएं

96 **गजलें**
प्रवीण पारीक 'अंशु'

97 **पेड़ का अस्तित्व**
जय वर्मा

रचनाकारों से अनुरोध

- गगनांचल हेतु भेजे जाने वाले आलेख मौलिक, अप्रकाशित तथा अप्रसारित होने चाहिए। इसकी उद्घोषणा आलेख के प्रारंभ में होनी चाहिए।
- कृपया अपनी रचना यूनीकोड फॉन्ट में ही टाइप कराकर भेजें। रचना यदि कृतिदेव या किसी अन्य फॉन्ट में हो तो साथ में फॉन्ट भी अवश्य भेजें।
- यदि रचना हस्तलिखित है, तो वह सुस्पष्ट अक्षरों में लिखी होनी चाहिए। ध्यान रखें कि भेजी गई रचना के पृष्ठों का क्रम ठीक हो।
- रचनाएं किसी भी दशा में लौटाई नहीं जाएंगी। अतः उसकी प्रतिलिपि (फोटो कॉपी) अपने पास अवश्य सुरक्षित रखें।
- आलेख की शब्द-सीमा न्यूनतम 1500 तथा अधिकतम 3000 शब्दों की है।
- रचना के साथ लेखक अपना संक्षिप्त परिचय भी प्रेषित करें।
- रचना के साथ विषय से संबंधित चित्र अथवा कहानी के साथ विषय से संबंधित कलाकृतियां (हाई रेज्योलेशन फोटो) अवश्य भेजें।
- रचना भेजने से पहले उसे अच्छी तरह अवश्य पढ़ लें। यदि संस्कृत के श्लोक अथवा उर्दू के शेर आदि उद्धृत किए गए हैं तो वर्तनी को कृपया भली-भांति जांच लें।
- स्वीकृत रचनाएं यथा समय प्रकाशित की जाएंगी।
- रचना के अंत में अपना पूरा पता, फोन नंबर और ई-मेल पता स्पष्ट शब्दों में अवश्य लिखें।
- आप अपने सुझाव व आलोचनाएं कृपया editor-iccr@govcontractor.in पर संपादक को प्रेषित कर सकते हैं।

प्रकाशकीय

भारतीय संस्कृति का महाआयोजन कुंभ

यह वर्ष भारत और भारतीय संस्कृति के दृष्टिकोण से अत्यंत उत्साहजनक और वैश्विक स्तर पर प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। जनवरी-फरवरी 2025 में भारत ने एक बार फिर अपनी सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत को कुंभ जैसे दिव्य और भव्य आयोजन के माध्यम से विश्वपटल पर प्रतिष्ठित किया।

इस वर्ष का कुंभ आयोजन अनेक दृष्टियों से अभूतपूर्व रहा। यदि 144 वर्षों के पश्चात प्राप्त दुर्लभ खगोलीय संयोग को भी क्षणभर के लिए अलग रखें, तो भी इस बार कुंभ व्यवस्था, श्रद्धालुओं की संख्या, शाही स्नानों का गरिमामय आयोजन - सभी कुछ विलक्षण और ऐतिहासिक रहे। प्रतिदिन लाखों की संख्या में श्रद्धालु संगम में आस्था की डुबकी लगाने पहुँचे, और चार शाही स्नानों के अवसर पर यह संख्या और भी अधिक रही। इसके बावजूद कुंभ आयोजन लगभग पूर्णतः निर्विघ्न और शांति से संपन्न हुआ, जो प्रशासनिक कुशलता, जनअनुशासन और समन्वय की सजीव मिसाल है। विश्वभर से आए दर्शकों और आगंतुकों ने इस सांस्कृतिक महासंगम को आश्चर्य, श्रद्धा और कौतुहल के साथ देखा। देश के प्रधानमंत्री से लेकर आम नागरिक, वृद्धजन दिव्यांगजन तक- सभी इस आध्यात्मिक अवसर को अपनी उपस्थिति से गौरवान्वित किया।

कुंभ ने भारतीय संस्कृति के अनेक आयामों को वैश्विक मंच पर भव्य रूप में प्रस्तुत किया। यह आयोजन पुनः इस सत्य को स्थापित करता है कि भारत की संस्कृति आज भी आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित है। काफी बड़ी संख्या में श्रद्धालुओं द्वारा लंबी दूरी पैदल तय कर संगम में स्नान करना, भारत की आत्मिक आस्था की शक्ति को दर्शाता है। साथ ही, इस आयोजन ने भारत की प्रशासनिक दक्षता, नागरिक अनुशासन और विविध सांस्कृतिक आयामों का सुंदर समन्वय विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया।

इस महाकुंभ में 66 करोड़ से अधिक लोगों ने स्नान किया, जो कि ज्ञात मानव इतिहास में किसी भी धार्मिक, सांस्कृतिक या सामाजिक आयोजन में अभी तक की सबसे बड़ी सहभागिता है। भारत और चीन के अलावा विश्व के किसी भी देश की जनसंख्या भी इतनी नहीं है, जितने लोगों ने यहाँ स्नान • किया। जनसंख्या की दृष्टि से देखें तो यह संख्या रूस की जनसंख्या की लगभग पाँच गुणा, जर्मनी की जनसंख्या की आठ गुणा, ब्रिटेन और फ्रांस की जनसंख्या की लगभग दस गुणा तथा इटली और स्पेन की जनसंख्या का लगभग 11-12 गुणा है। पूरे यूरोप की जनसंख्या भी इस संख्या से केवल 10 करोड़ ही अधिक है।

इस विराट आयोजन में भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद ने भी सक्रिय सहभागिता निभाई। 22-23 फरवरी 2025 को इंडिया फाउंडेशन के साथ संयुक्त तत्त्वाधान में परिषद द्वारा 'अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक महाकुंभ' का भव्य आयोजन प्रयागराज में संपन्न हुआ, जिसमें 11 देशों से आए 127 कलाकारों ने सम्मिलित होकर ताल और एकता के मंत्रमुग्ध कर देने वाले उत्सव में प्रस्तुति दी। इन दो दिनों में 13 उत्कृष्ट कलात्मक मंडलियों, जिनमें भारत की भी विशिष्ट प्रस्तुतियाँ सम्मिलित थीं, ने दर्शकों को एक अनुपम सांस्कृतिक अनुभव से आपूरित किया। यह आयोजन महाकुंभ के उस व्यापक महत्व को दर्शाने का प्रयास था, जहाँ विविध संस्कृतियाँ एक मंच पर आती हैं और सृजनात्मकता, सौहार्द एवं वैश्विक सद्भाव का एक सुंदर उत्सव रचती हैं।

के. नंदिनी सिंगला

(के. नंदिनी सिंगला)

महानिदेशक, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

संपादकीय

भारतीय ज्ञान का प्रतीक है कुंभ महापर्व

ग्रिगोरियन कैलेंडर के नए वर्ष का प्रारंभ हो चुका है और उसका प्रारंभ ही भारतीय संस्कृति के एक विलक्षण आयोजन कुंभ से हुआ है। उल्लेखनीय यह भी है कि इस वर्ष भारतीय पंचांग के अनुसार विक्रम संवत के नए वर्ष के प्रारंभ में ही परिषद के 75 वर्ष भी पूरे होंगे। इस प्रकार देखा जाए तो इस वर्ष प्रारंभ चाहे किसी भी कैलेंडर का हो, भारतीय संस्कृति के वैश्विक व्याप की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

कुंभ की महत्ता कई कारणों से है। हालाँकि देश में उसे एक धार्मिक आयोजन की तरह ही देखा जाता है, परंतु कुंभ वस्तुतः केवल धार्मिक आयोजन नहीं है। यह प्रतीक है भारतीय संस्कृति और उसके ज्ञान-विज्ञान का। हमें ध्यान रखना चाहिए कि पिछले डेढ़ सौ वर्षों से भारत के इतिहास और ज्ञान-विज्ञान पर ग्रीक इतिहास और ज्ञान-विज्ञान को थोपने का एक सुव्यवस्थित प्रयास अंग्रेजी शासन द्वारा किया जाता रहा है, जिसका अनुवर्तन स्वाधीनता के बाद भी होता रहा। कुंभ का आयोजन ऐसे कई मिथको को तोड़ता है। सबसे उल्लेखनीय तथ्य कुंभ के आयोजन का समय ही है।

कुंभ प्रत्येक 12 वर्ष के बाद आयोजित किया जाता है। 12 वर्ष का यह चक्र वृहस्पति के चक्र पर आधारित है। यानी कुंभ जितना प्राचीन होगा, वृहस्पति के चक्र के ज्ञान का कालखंड उससे अधिक प्राचीन होगा। यह भारत के ज्ञान-विज्ञान के इतिहास को स्थापित करता है। इतना ही नहीं, कुंभ के आयोजन में नक्षत्रों की स्थितियों का भी महत्त्व है। यानी नक्षत्रों के खगोलीय प्रेक्षण की विधा और तकनीक दोनों ही भारत में प्राचीन काल से ही रहे हैं।

यह ठीक है कि पुराणों ने कुंभ के आयोजन के साथ कुछेक धार्मिक कथाएं जोड़ दी हैं परंतु इससे कुंभ के साथ जुड़े ज्ञान-विज्ञान का महत्त्व कम नहीं होता। वस्तुतः ये कथाएं भी कहीं न कहीं भारतीय समाजदर्शन को ही प्रतिबिंबित करती हैं। उदाहरण के लिए समुद्र मंथन में असुरों की भागेदारी यह स्थापित करती है कि विरोधी शक्तियों की भी समाज में सकारात्मक भूमिका हो सकती है। यह ध्यान रहे कि भारतीय समाजशास्त्र की परंपरा में वृत्तियों के नाश की बात की जाती है, वर्गसमूहों के नाश की नहीं। कुंभ भारतीय समाजशास्त्र की इस संकल्पना का ज्वलंत उदाहरण है।

कुंभ के बहाने भारतीय ज्ञान-विज्ञान के ऐसे ही कुछ आयामों की चर्चा गगनांचल के इस अंक में की जा रही है।

रवि शंकर
मोबाइल : +91-8076624400
ईमेल : editor-iccr@nic.in

कुम्भ : नक्षत्रों का अमृत मेला

— डॉ. मधुसूदन उपाध्याय

भारत आश्चर्यों और चमत्कारों का देश है। यह देवभूमि है, देवताओं की आध्यात्मिक प्रयोगशाला है, यह चेतना के उत्कर्ष की भूमि है। यह भूमि स्वयं में इस ब्रह्माण्ड की 'कुलकुण्डलिनी' है। इसके प्रकाश से ही जगत प्रकाशित है।

भारत का एक बहुत बड़ा आश्चर्य कि अमरत्व की खोज, अमृत की खोज, मृत्यु से अभय की खोज हमारे यहाँ व्यक्तिगत नहीं साझी है। देवता भी इस खोज का हिस्सा हैं तो दानव भी। मानव भी मानवेतर भी। सोचिए न, है कि नहीं आश्चर्य?

कि एक पूरा महादेश निश्चित दिन तिथि नक्षत्र होरा वार पर एक साथ अमृत साधने का प्रयास करता है। जी हाँ, उस महान आश्चर्य का नाम है कुम्भ। अनादिकाल से ही इस कुंभयोग को आर्यों ने सर्वश्रेष्ठ साक्षात मुक्तिपद की संज्ञा दी है।

यह बिलकुल न समझा जाए कि केवल एक बार समुद्र मंथन हुआ, अमृत निकला, चंद्रमा और जयन्त की गलतियों से पृथ्वी पर चार जगह छलक गया, और हम उसकी याद में कुम्भ मना रहे हैं। ना! बिलकुल नहीं!

मनुष्य की प्रवृत्तियां शाश्वत हैं, मृत्यु शाश्वत है, देवता और राक्षस शाश्वत हैं। अमृत की खोज शाश्वत है। आज भी समुद्र मंथन हो रहा है, आज भी हलाहल निकल रहा है। अमृत छलक रहा है।

काल के परिमापक सूर्य पर दायित्व है कि अमृत कलश टूट न जाए, चंद्रमा को जिम्मेदारी है कि अमृत छलके नहीं, बृहस्पति की तो दृष्टि में ही अमृत है, वह राक्षसों को अमृत कलश से दूर रखने का काम करते हैं। शनि परम सयाने, वह जयन्त पर दृष्टि रखते कि कहीं इन्द्र पुत्र ही न अमृत गटक ले सारा।

ध्यान रहे कि कुम्भ आयोजित नहीं किया जाता। कोई भी सरकार, राजनीतिक दल या मठ सम्प्रदाय कुम्भ का आयोजन कर सकने में सक्षम नहीं। साजो सामान इकट्ठा कर लोगे, भीड़ जुटा लोगे, पर अमृत कहां से लाओगे?

कुम्भ घटित होता है। यह साक्षात ईश्वर अनुप्राणित है। मनुष्य देवता गंधर्व राक्षस सब इसके 'वालंटियर्स' मात्र हैं।

महानुभाव आर्यों! रहस्यदर्शी तत्त्ववेत्ता निजगुरू के मुख से सुना कहता हूं कि यह गंगा यमुना के बीच की भूमि ही पृथ्वी की योनि है। और प्रयाग जहां त्रिपथगा मंदाकिनी विष्णुपदी गंगाजी साक्षात यमराज की बहन सूर्यतनया

कालिन्दी और वेदवती अदृश्या सरस्वती से मिलन करती हैं, वह संगम ही इस महायोनि का मुख है। अग्नि पुराण ने प्रयाग झूंसी के विस्तृत भू-भाग को ही पृथ्वी का जंघा माना है।

तन्त्र योग कहता है कि **"स-सङ्गममिदं स्थानं, उर्मिण्युन्मीलनं परम्"** अर्थात् इस संगम में उल्लास से युक्त श्रेष्ठ ऊर्मियों की उपलब्धि होती है।

ब्रह्मा ने प्रयाग में यज्ञ किया महान। यह यज्ञ संस्कृति का और नदी संस्कृति का परम उद्घोष था। यह जो नदियां हैं न ये कोई सामान्य जल स्रोत मात्र या जलाशय मात्र नहीं हैं। ऐसा नहीं है कि गड्ढा था और बरसात हुई तो नदी बन गई या पहाड़ का पानी किसी नाले में उतर गया।

वास्तव में तो ब्रह्माण्ड के ही अमृत प्रवाहों को नदियों का नाम दिया गया है। ऐसा समझिए कि इसका केन्द्रीय चक्र आकाश-गंगा है।उसकी सर्पाकार भुजा के सात खण्ड गंगा की सप्तधाराएं हैं। पूरे ब्रह्माण्ड में फैला ब्रह्मद्रव सरस्वती है। ब्रह्माण्ड की सीमा तक सूर्य का प्रकाश पहुंचता है, वह यम है- 'पूषन् एकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन् समूह' (ईशावास्योपनिषद्)

उसकी परिधि पर का प्रवाह यमुना है। इन्हीं तीन का संगम प्रयागराज में है।

यह प्रयागराज अनेकानेक प्रकृष्ट यागों की भूमि है। सित-असित का मिलन बिन्दु है। अलर्कपुरी अरैल से प्रतिष्ठानपुर झूंसी तक का क्षेत्र यही प्रजापति क्षेत्र है, यही अक्षय भूमि है।

पाणिनि इस भूमि की विशिष्टता बताते कहते हैं कि «अन्यत्र ज्ञानेनमुक्ति अत्र स्नानादेव मुक्ति:» बाकी तीर्थों में ज्ञान मुक्त करेगा प्रयाग में स्नान मात्र से मुक्ति संभव है। इसीलिए यह तीर्थराज है। प्रयागराज शाश्वत दीप्तिमान 'ऋत' है। इसे अनृत कभी ढक नहीं सकता।

बारह संवत्सर पर यह कुम्भ घटित होता है। संवत्सर ही देवताओं का यज्ञ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि 'संवत्सरो यज्ञ: प्रजापति:'! समुद्र मंथन भी यज्ञ है।

यह समुद्र मंथन भी गजब ही रहस्यमय है। अगर रूपक मात्र भी हुआ तो भी गजब ही है। शैव दर्शन पराख्यातंत्र का सूत्र है 'सप्तद्वीपा वसुमती' और इस वसुधा का एक नाम सप्तसमुद्रा भी है।

तो इस धरती पर सात द्वीप तथा उनको घेरने वाले सात समुद्र हैं। आकाश के चार धामों के चार समुद्रों की तरह गौ रूप पृथ्वी के भी चार कोटि के समुद्र हैं। कालिदास जैसे सक्षम ज्योतिषी कवि का कथन देखिए!

पयोधरी भूत चतु: समुद्रां जुगोप गोरूप धरामिवोर्वीम्। (रघुवंश, २/३)

तो कुल मिलाकर यह 4×7×7×12×9×107 की प्रायिकताओं का एक अबूझ गणित है।

अब देखिए कि इन तमाम प्रायिकताओं में से एक कैसा दुर्लभ योग इस माघ मास की अमावस्या को घटित हो रहा है।

यह माघ जो है न वह निष्पाप है। मा-अघम्! अमृत के अधिष्ठाता देवता महाविष्णु माधव इस माह के देवता हैं। अमावस को सूर्य और चंद्र श्रावण नक्षत्र में, जीव बृहस्पति रोहिणी में, अर्यमा वरूण और इन्द्र अमृत कलश लेकर प्रयाग में उपस्थित होंगे। नामामृत कथामृत दर्शनामृत तो एक माह से छलक ही रहा है।

मकरे च दिवानाथे वृषगे च बृहस्पतौ। कुंभयोगो भवेत तत्र प्रयागे ह्यतिदुर्लभ:।। माघे वृषगते जीवे मकरे चन्द्रभास्करौ।। अमावस्यां यदा योग: कुम्भाख्यस्तीर्थनायके।।

कृत्तिका और रोहिणी के आस-पास गोचर करता हुआ जीवकारक बृहस्पति 'धर्मेश' हो जाता है। ऐसा पाराशर कहते हैं। इसी धर्मेश की पांचवीं अमृत दृष्टि कभी 'मघा' और कभी 'हस्त' नक्षत्रों पर पड़ती है। मघाधिपति आदित्य और हस्त के स्वामी सोम इन अमृत ऊर्मियों को श्रवण नक्षत्र में बैठकर ग्रहण करते हैं। सोम और अर्क इसकी प्रतिस्थापना 'पुष्य' नक्षत्र में कर देते हैं। कर्क राशि का जल जो संगम क्षेत्र में है वह अमृत हो जाता है। मघवा इन्द्र इस नक्षत्र मेला का संयोजक है। आओ, अमृत ग्रहण करो ऋषिपुत्रों, देवताओं!

तो, अमरता है कि मरना न पड़े या कि पुनः न आना पड़े। रहस्य यह कि पुनरावृत्ति न हो, यही अमरता है और हमने सुना कि पुनरावृत्ति न हो, इसका रास्ता कई पुनरावृत्तियों और परिक्रमाओं से होकर जाता है।

(जैव-वैज्ञानिक तथा ज्योतिष एवं आगम के गंभीर शोधार्थी
10/2, बहार-बी, सहारा स्टेट्स
जानकीपुरम, लखनऊ-226021
उत्तर प्रदेश)

भारतीय संस्कृति में कुंभ

— अमिय भूषण

पूर्णः कुम्भोऽधिकाल आहितः,
तवं वै पश्यामो बहुधा न सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि
प्रत्नङ्कालं तमाहुः परमें व्योमन्।

भावार्थ: हे प्राणियों, संतो! पूर्ण कुंभ आ गया है। इसे देखो हम इसे आदिकाल से देखते आए है। ये कुम्भ वो काल है जो विराट आकाश में अनंत अंतरिक्ष में ग्रह राशियों के विशेष संयोग से घटित हो रहा है। यह सम्पूर्ण ब्रह्मांड को भी प्रभावित कर रहा है। इसे देखो।

ये शब्द वेदों के है जो बार बार उद्घोष कर रहे है। अथर्ववेद का यह मंत्र हमें प्रारंभ हो रहे प्रयागराज पूर्णकुम्भ का आमंत्रण निमंत्रण भी दे रहा है। ये कुम्भ आगामी 13 जनवरी से 26 फरवरी 2025 तक चलना है। इस दौरान चार प्रमुख पर्व स्नान होंगे। ये तिथियाँ मकर संक्रांति, मौनी अमावस्या, बसंत पंचमी और माघ पूर्णिमा है। इसके अलावा पौष पूर्णिमा और शिवरात्रि को स्वतः सिद्ध योग नाते स्नान होगा। इस अवसर पर दुनिया भर के साधु संतों संग श्रद्धालु भक्तों का आगमन सुनिश्चित है। यह तीर्थराज प्रयाग के त्रिवेणी संगम तट पर आयोजित हो रहा है। यहाँ श्वेत गंगा श्याम यमुना संग मिलती है। इसका जिक्र ऋग्वेद के खिलसूत्र में मिलता है। इस अवसर पर अन्तरसलिला सरस्वती का जल भी इसका साक्षी बनता है ऐसी लोकमान्यतायें है। बात इस नगर की करे तो महाभारत से लेकर विभिन्न पुराणों में प्रयाग को सर्व तीर्थों में श्रेष्ठ बताया गया है। पौराणिक हिंदू मान्यतानुसार सृष्टिकर्ता ब्रह्मादेव द्वारा सृष्टि प्रारंभ पूर्व प्रथम यज्ञ यही किया गया था। आदिदेव विष्णु और शिव ने भी इसे प्रयाग नाम से ही पुकारा है। दरसल प्रयाग प्र उपसर्ग और यज धातु के मिलन से बना है। लघुसिद्धांत कौमुदी व्याकरण अनुसार "प्रयाग यागेम्य: प्रकृष्टः" है।

> ***कुम्भ केवल एक पर्व नहीं बल्कि स्वयं में एक पूर्ण परंपरा है। यह समय सा जागृत है जो कालपुरुष सा कभी सोता नहीं है। जहाँ यह सूर्य सा प्रकाशवान है वही चंद्रमा सा शीतल भी है। अगर आपको सनातन परम्परा और भारत की गौरवगाथाओ का दर्शन करना हो तो आपको कुंभ आना पड़ेगा।***

यह एक ऐसा नगर, ऐसी यज्ञभूमि है जहाँ युग युगांतर से देवपूजा, सत्संग की संगति और दान रूपी धर्म का महत्व रहा है। यही अर्थ तो इसके नाम का बनता है इसलिए इसे तीर्थराज प्रयाग से संबोधित किया जाता है। यहाँ भक्त प्रहलाद से लेकर चैतन्य महाप्रभु तक के आगमन का इतिहास वृत्तांत है। भारद्वाज मुनि की यह नगरी ऋषि याज्ञवल्क्य को भी अतिशय प्रिय थी। इनका भी एक प्रसिद्ध आश्रम यहाँ अवस्थित है। इस नगर का देवता ही नहीं बल्कि साधु संत अखाड़ों से जुड़ा अपना एक समृद्ध इतिहास भी है। यहाँ का आलोपशंकरी शक्तिपीठ शंकर परंपरा के महानिर्वाणी अखाड़ें के अंतर्गत आता है। गंगा यमुना के पावन तटों से लगते कई प्रसिद्ध देव स्थल है जिनमें अक्षयवट और नागवासुकी प्रसिद्ध है।

कुंभ मेला क्षेत्र के अंतर्गत संतों से जुड़े कई महत्वपूर्ण स्थल है। यहाँ सिख मत से संबद्ध बड़ा उदासीन अखाड़ा और शंकर परंपरा के महानिर्वाणी अखाड़ा का मुख्यालय है। बात वैष्णवो की करे तो यह तीर्थ नगर रामानंद स्वामी का जन्म स्थल

भी है। यहाँ के दारागंज मुहल्ले में जगतगुरु रामानंदाचार्य का जन्म हुआ था। इन दिनों यहाँ की संपूर्ण व्यवस्था काशी के पंचगंगा घाट अवस्थित श्रीमठ के अधीन है। यह रामानन्दाचार्य परंपरा का मूलपीठ है। कुंभ के समय यहाँ के जगतगुरु रामानन्दाचार्य स्वामिश्री रामनरेशाचार्य संतों संग इस स्थान पर निवास करते है। यहाँ वैष्णव परंपरा के बावन द्वारों में से दो का प्रधान केंद्र है। इसमें से जंगीजी समुद्रकूप झूसी तो देवमुरारी दारागंज में ही अवस्थित है।

यही नहीं सभी तीन वैष्णव अखाड़ें निर्वाणी निर्मोही और दिगंबर की छावनी बैठके भी यही मौजूद है। वास्तव में पावन नगरों के पवित्र नदी तटों पर होने वाला कुम्भ केवल एक पर्व नहीं बल्कि स्वयं में एक पूर्ण परंपरा है। यह समय सा जागृत है जो कालपुरुष सा कभी सोता नहीं है। आकाश में उदित ध्रुव तारे सा अटल है यह कभी टलता नहीं है। जहाँ यह सूर्य सा प्रकाशवान है वही चंद्रमा सा शीतल भी है। यह पृथ्वी पर गंगा सा निर्मल प्रवाहमान है। यह वसुधा और ग्रहमंडल सा सदैव चलायमान है। जहाँ धर्म ने धरती को धारण कर रखा है वही कुंभ पर्व ने इस धर्म को अब तक अक्षुण बनाये रखा है। अगर आपको सनातन परम्परा और भारत की गौरवगाथाओ का दर्शन करना हो तो आपको कुंभ आना पड़ेगा। विविधताओं से भरे इस मेले में आपको न केवल विचित्र साधु अपितु नवीन तकनीकी से लैस गुरु और ज्ञानी भी मिलेंगे। यही आकर आपको भारत की विराट थाती विशाल जनसमूह से आत्म साक्षात्कार होगा।

**“ *बात अगर कुम्भ पर्व के अतीत की करे तो यह उतना ही पुराना है जितना कि सनातन हिन्दू धर्म है। इसके तार इसे वेदों से जोड़ते है। वेदों में सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद में इससे संबंधित कई मंत्र है। ऋग्वेद के नवम मंडल के पवमान सोम सूत्र में इसका प्रमाण भी है।* **

बात अगर कुम्भ पर्व के अतीत की करे तो यह उतना ही पुराना है जितना कि सनातन हिन्दू धर्म है। इसके तार इसे वेदों से जोड़ते है। वेदों में सर्वाधिक प्राचीन ऋग्वेद में इससे संबंधित कई मंत्र है। ऋग्वेद के नवम मंडल के पवमान सोम सूत्र में इसका प्रमाण भी है। यहाँ अबतक सुनी गई कथाओं से इतर एक सुंदर कथा के माध्यम से कुंभ महात्म्य की कथा आई है। यह कथा स्वर्गलोक से शुरू होती है। जहाँ दुग्ध दही शहद जल औषधियों के मंथन से सोम अर्थात अमृत उत्पन्न किया जाता है। स्वर्ग के ऋषिगण पवित्रीकरण में मार्जन हेतु इस कलशस्थ अमृत जल का उपयोग करते है। किंतु धरती पर यह अप्राप्य है। अतः पृथ्वी के मंत्रद्रष्टा ऋषिगण गायत्री का आवाहन करते है। ज्ञान के खोज में निरंतर रत और मनुष्यता के कल्याण में निमग्न गायत्री उपासक इन ऋषियों के लिए तब इसे स्वर्ग से लाया गया था। वेदमाता गायत्री स्वयं पक्षी के रूप में यह लेकर यज्ञमंडप तक आई थी। देवी सुपर्ण अर्थात गरुड़ और श्येन बाज के रूप में इस अमृत कलश को लेकर यज्ञमंडप में प्रगट हुई। ऐसी चर्चा ऐतरेय, शतपथ और जैमिनी ब्राह्मण ग्रंथों में आई है। यहाँ आकाश में छिपे इन अमृत सोम को प्राणियों के कल्याणार्थ सुलभ कराने हेतु ऋषि इन दिव्य पक्षियों का धन्यवाद करते है। इसके लिए यहाँ यूयं हि सोम पितरो मम स्थान दिवोमूर्धानः प्रस्थिता वयस्कृतः कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण इसे थोड़ा विस्तार देते हुए कहता है कि अमृत कलश की यह यात्रा सरल नहीं थी। स्वर्ग से पृथ्वी तक की यात्रा में इसे असुरों से भी बचाना और छिपाना भी था। किंतु उनकी दृष्टि से यह बच नहीं पाया। इसी छीन झपट में यह थोड़ा सा टूट गया और छलकते हुए धरती पर इसकी कुछ बूंदे गिर पड़ी थी। इसे यहाँ कुछ इन शब्दों में व्यक्त किया गया है- यद् गायत्री श्यनो भूत्वा दिवः सोमं आहरत। देखो यह जहाँ जहाँ गिरा है वहाँ दिव्य औषधियाँ और जीवनदायी वनस्पतियाँ उत्पन्न हो गई हैं। इसी प्रकार अथर्व वेद में तो कुंभ के अनेक मंत्र और आख्यान भरे पड़े है। इसके एक मंत्र में कहा गया है - देव दानव संवादे मध्य माने महोदधो। उत्पन्नोऽसि तदा कुम्भ: विधृतो विष्णुनास्वयम्। कुंभ के वैदिक प्रमाण के लिए ये मंत्र काफी हैं। यह देव-दानव, मंथन-मथनी, विष-अमृत, मोहिनी और नीलकंठ अवतारों की कथा सुनाने को भी पर्याप्त प्रमाण है।

बात अगर रामायण की करे तो

वाल्मीकि रामायण में ऋषि भारद्वाज रामजी से वनवास का कुछ समय गंगा-यमुना संगम प्रयागराज में बिताने को कहते है। वही रामचरित मानस में कुंभ स्नान के महत्व को बताते हुए तुलसी दास जी बालकांड में कहते है - **माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई।। देव दनुज किंनर नर श्रेनीं। सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनीं** अर्थात माघ के महीने में जब सूर्य मकर राशि पे हो तो सभी लोग तीर्थराज प्रयाग को आते हैं। क्या देवता-दैत्य, किन्नर और मनुष्यों सभी इस त्रिवेणी में स्नान करते हैं। गीता के पंद्रहवे अध्याय के तेरहवें श्लोक में भगवान वासुदेव कहते है कि मैं सोम हूँ मेरा वास अमृत में है। यही अमृतकण चंद्रमा के किरणों के द्वारा धरती पर निरंतर इन दिव्य औषधि और वनस्पतियों को पुष्ट करती रहती है। इसी की अभिव्यक्ति तो "पुष्णामि चौषधी: सर्वा: सोमो भूत्वा रसात्मक:" है। वेद मंत्रों से शुरू इस कुंभ यात्रा को देखा जाए तो यह पुराणों से होता हुआ इतिहास के पन्नों में बिखरा पड़ा है। यह कुंभ कथा इतिहास पुराण की पुस्तकों से लेकर लोगो की जुबान तक पर चढ़ा है। आखिर हो भी क्यों न कुम्भ को लेकर पुराणों में बताई गई कथा जो इतनी रोचक है।

यूं तो कुंभ पर्व को लेकर स्कंद, नारद, विष्णु और श्रीमद्भागवत पुराण में चर्चा आई है। परंतु पुराण में वर्णित हर कथा देवराज इंद्र और ऋषि दुर्वासा के प्रसंग से शुरू होती है। देवराज इंद्र को मार्ग में ऋषि दुर्वासा का साक्षात्कार होता है। इंद्र प्रणाम करते है प्रतिउत्तर में ऋषि कल्यानमस्तु कहते हुए उन्हें एक दिव्य पुष्प माला प्रदान करते है। जिसे मतांध देवराज इंद्र तुच्छ मान कर गजराज ऐरावत के गले में डाल देते है। मतवाला उन्मत्त ऐरावत उसे ऋषि के सामने ही भूमि पर फेंक कर कुचल देता है। ऐसे में कुपित ऋषि देवराज को श्रीहीन होने का श्राप देते है। तब श्रापित देवराज ऋषि से कातर स्वर में बारंबार क्षमायाचना करते है। ऐसे में ऋषि उन्हें कल्याण का मार्ग बताते है। इंद्र को देव और दानवों के नेतृत्व में समुद्र मंथन का मार्ग सुझाते है। इस समय दानवता सर्वत्र देवत्व पर भारी थी।

फलतः ऐसे मंथनो से जहाँ देवत्व के प्रभुत्व में अभूतपूर्व वृद्धि होती। वही यह मनुष्यता के कल्याण और यश का भी मार्ग खोलने वाला था। ऐसी परिस्थितियों में समुद्र मंथन प्रारंभ हुआ। इस मंथन से चौदह रत्न निकले। इनमें वारुणी थी तो कामधेनु भी थी। भोग्या अप्सरा रंभा थी तो पूज्या सौभाग्य सूचक देवी लक्ष्मी भी थी। अमृत सोम था तो हलाहल कालकूट भी था। किंतु इन चौदह में प्रथम विष और अंतिम अमृत था। वैसे भी ये सृष्टि सदैव से ही द्वन्द्वात्मक रही है। सुख है तो दुख भी, पाप-पुण्य, जड़-चेतन, चर-अचर, जीवन-मृत्यु, दिन-रात के मिलन से ही इसका निर्माण हुआ है। व्यक्ति इन द्वन्द्वों से उत्पन्न विचारों से उद्वेलित होता रहता

है। यह तब तक चलता है जब तक शांति विवेक का अमृतपान न हो जाए पर यह कहाँ सरल है? विष तो देवाधिदेव शंकर ने गटक लिया पर अमृत का क्या होगा? इसी अमृत कलश के लिये पुनः देव दानवों में संघर्ष छिड़ा था। ऐसे में दानवों से अमृत कलश की रक्षा हेतु भगवान नारायण को मोहिनी अवतरण लेना पड़ा। असुर तो इस रूप के आगे मोहित एवं भ्रमित थे। परंतु कलश की रक्षा कैसे हो यह देव पक्ष और ऋषियों की चिंता का विषय था। जहाँ एक ओर देवताओं के बीच राहु केतु पैठ बना चुके थे। वही दूसरी ओर देवराज इंद्र का पुत्र जयंत वैद्यराज धन्वंतरि के हाथों से अमृत कलश लेकर भाग चुका था। ऐसे में इस सुधा घट की रक्षा और इसे कुपात्रों की पहुँच से दूर रखने की जिम्मेदारी महत्वपूर्ण थी।

भागते हुए जयंत ने बारह दिनों में इसे बारह स्थानों पर रखा था। इन बारह स्थानों पर ये छलका भी था। यहाँ इसकी चंद बूंदे भी गिरी। कुंभ पर्व इन्ही स्थानों पर आयोजित होता है। बाकी कुंभ के इस पौराणिक और पुरातन वैदिक कथाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है। इसके अलावा कि वैदिक कथा में अमृत कुंभ घट टूट जाता है। पुराणों कथा में यह देवगुरु बृहस्पति और सूर्य चंद्र शनि द्वारा रक्षित है। वैदिक आख्यान में दिव्य आकाश समुद्र है, सूर्य रश्मियाँ रज्जु और सूर्य मथानी, सोम चंद्र अमृत कलश है। दिन देव के प्रतीक और रात्रि तम दानव का संकेत है। वहीं पौराणिक कथा में मेरुपर्वत मथानी थे, नाग वासुकी रज्जु, कूर्म मेरु के पीठ पृष्ठ थे।

> **“ *भागते हुए जयंत ने बारह दिनों में इसे बारह स्थानों पर रखा था। इन बारह स्थानों पर ये छलका भी था। यहाँ इसकी चंद बूंदे भी गिरी। कुंभ पर्व इन्ही स्थानों पर आयोजित होता है। बाकी कुंभ के इस पौराणिक और पुरातन वैदिक कथाओं में कोई विशेष अंतर नहीं है।* **

धरती पर अवस्थित समुद्र का देव दानवों द्वारा मंथन हुआ।

बात अगर इतिहास के आईने में हो तो भी कुंभ गाथा का कोई जोर नहीं है। ये ह्वेनसांग -राजा हर्षवर्धन के ज़बाने से आज तक एक जैसा ही है सिवाय बदलते हुए वक्त और नयी तकनीक के आने के कोई अंतर नहीं आया है। तब इसके साक्षी ह्वेनसांग थे तो अब मार्क टुली, डेविड फ्राँउल, फ्रैंकोइस गौटिर, कोइनराड एलस्ट और निकोलस काज़न्स है। यह हर विदेशी यात्री के लिए न केवल एक कौतूहल है अपितु भारत को जानने का एक सशक्त माध्यम भी है। ह्वेनसांग ने राजा हर्षवर्धन के द्वारा आयोजित धर्म सभा की चर्चा अपने यात्रा वृतांत में की है। तब करीब पाँच लाख लोग जुटे थे। हजारों साधु संत और राजे रजवाड़े कुंभ में आये थे। राजा हर्षवर्धन अपने आराध्य बुद्ध, सूर्य और भगवान शिव को आवाहित कर धर्मसभा और दान के अपने ऐतिहासिक आयोजनों को आरंभ किया करते थे। क्या बौद्ध क्या शैव क्या वैष्णव और जैन मुनि सभी भिक्षु साधु मुनि याचक को सम्राट ने मुक्तहस्त से दान दिया था। राजा तब तक दान करता जब तक शरीर के आखिरी वस्त्र भी दानवस्तु के रूप में भेंट न हो जाये। फिर अपने कुटुंबों के वस्त्र में नगर को लौटता था। ये दान अहंकार मोह और मद का त्याग था। यह आत्मकल्याण और मोक्ष मुक्ति का मार्ग था। इस आयोजन द्वारा प्रजा से संग्रहित धन पुनः प्रजा को लौटा दिया जाता था।

कुम्भ मेला केवल एक धार्मिक आयोजन मात्र नहीं है। ये तो सदियों से समाज में प्राणवायु फूंकने का काम करता रहा है। सन् 1857 के असफल क्रांति के उपरांत 1886 में हरिद्वार के कुंभ में स्वामी दयानंद सरस्वती ने स्वदेशी, स्वधर्म और सुराज की हुँकार भरी थी। महामना मालवीय जी इन कुंभ मेलाओ के माध्यम से अपनी परम्परा और धरोहरों की रक्षा के संकल्पों को आंदोलन का रूप देते थे। प्रयाग एवं हरिद्वार कुंभ से संबंधित उनकी कई स्मृतियाँ है। उन दिनों अंग्रेज अधिकारियों द्वारा अकसर हिन्दू प्रतीक एवं मान्यताओं का अनादर किया जाता था। इसे लेकर 1927 के हरिद्वार कुंभ में हुए आंदोलन में महामना ने भागीदारी दी थी। ऐसा ही एक मसला रीवा नरेश का भी है। सन् 1836 के प्रयाग कुंभ में उन्होंने अंग्रेजी सरकार के कुंभ स्नान कर नीति का पुरजोर विरोध किया था। महापरिनिर्वाणी अखाड़ें द्वारा सन् 1942 के प्रयाग कुंभ में ईसाइयों के प्रवेश पर प्रतिबंध की माँग हुई

थी। दरसल ईसाई मिशनरी ऐसे आयोजनों के दौरान उन दिनों धर्मांतरण की चेष्टा करती थी। स्वतंत्रता उपरांत सन् 1954 के प्रयाग कुंभ में तत्कालीन भारतीय राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद पूरे एक महीने रुके थे। प्रधानमंत्री नेहरू का भी इस मेले में आना हुआ था। पाश्चात्य देशों में हिंदू गुरु के रूप में ख्यातिप्राप्त स्वामी योगानंद और भक्तिवेदांत श्रीलप्रभुपाद की भी कुंभ यात्रा बेहद रोचक है। ये अपने विदेशी भक्तों को कुंभ में लेकर आते रहे है। यहाँ उन्हें भारत का त्याग भारत के तपस्वियों का साक्षात्कार कराते थे। वे उन्हें भारत के अध्यात्म से परिचय कराते और ज्ञान विज्ञान दर्शन का अवसर उपलब्ध कराते थे। प्रभुपाद 1977 के प्रयाग कुंभ में लाव लश्कर के साथ आए थे। योगानंद अपनी पुस्तक में 1894 के प्रयाग कुंभ में अपने गुरु श्रीयुक्तेश्वर और महावतार बाबाजी के प्रथम भेंट का वर्णन करते है। ऐसे ही प्रयाग और हरिद्वार की कुंभ यात्राओं ने महात्मा गांधी के सेवा समभाव और समानता भावना को पुष्ट किया है। उन्हें प्रेरित करने में महती भूमिका निभाई है। महात्मा गांधी ने अपनी आत्मकथा सत्य के प्रयोग में 1915 के हरिद्वार कुंभ यात्रा वृतांत का जिक्र किया है।

औपनिवेशिक भारत में कई बार कुंभ स्नानो को लेकर भी विवाद होता था। ऐसे ही एक विवाद निपटाने हेतु पटियाला नरेश सन् 1796 के कुंभ में अपने दल बल संग आये थे। दरअसल तब सबसे नये बने निर्मल अखाड़े को लेकर विवाद था। सिखों के गुरु गुरुगोविंद सिंह द्वारा स्थापित इस अखाड़े के संतों का स्नान में क्रम और अखाड़ों के बीच उनके स्थान का मसला अनसुलझा था। कुंभ की बात हो तो बिना पेशवाई और अखाड़ों के इसकी बात कभी पूरी होती नहीं है। कुंभ अगर एक बारात है तो ये अखाड़े उसके बाराती है। दरसल ये अखाड़े न केवल हमारी एकात्मता के प्रतीक है अपितु गौरवशाली अतीत का भी हिस्सा है। सैकड़ों मत ढ़ेरों बोली हजारों जाति अनेकों उपास्य, उपासना पद्धति तथा दर्जनों सम्प्रदाय वाले इस धर्म में देश और धर्म की रक्षा के लिये केवल तेरह अखाड़े है। सन्यासी शैवों के सात तो वैरागी वैष्णवों के तीन अखाड़े है। वही सिख पंथ से तीन अखाड़े हैं। इसे बड़ा उदासीन, नया उदासीन और निर्मल के नाम से जानते हैं। हर अखाड़े के अपने आराध्य देव और पृथक परंपरा है। किन्तु संचालन व्यवस्था और उद्देश्य की दृष्टि से सभी बिल्कुल एक समान है। हर अखाड़े की स्थापना के पीछे देश धर्म की रक्षा और परंपरा विशेष के संतों के संगठन का भाव रहा है। ये अखाड़े इन्हीं कुम्भ मेलों के माध्यम से मेलजोल बढ़ाते और अपना विस्तार करते रहे है। जीव में शिव का नित्य दर्शन करने वाले संत जब रणभूमि में उतरते है तो इनके शस्त्रों के मुख केवल रक्त और मुंड ही लगता है। उन क्षणो में ये साक्षात रुद्र और भैरव के स्वरूप दिखते हैं। इनकी एक हुँकार शत्रुओं के हृदय को भी भयकम्पित करती है।

इतिहास के हर दौर में ये देश और धर्म की रक्षा के दीवार रहे है। इन अखाड़ों ने सन् 1398 ई. के हरिद्वार कुंभ मेले में तैमूर लंग द्वारा किये तांडव का प्रतिकार किया था। सन् 1751-53 में तीर्थराज प्रयाग की रक्षा अफगानों से की और सन् 1664 में औरंगजेब से काशी विश्वनाथ की रक्षा भी की थी। इस युद्ध के ठीक दो वर्ष बाद एक बार फिर मुगल फौज से कनखल हरिद्वार में युद्ध लड़ा और जीता था। बात अगर ब्रितानी हुकूमत की करे तो सन्यासी विद्रोह, बक्सर युद्ध और 1857 कि क्रांति में इनके योगदानों को कौन भूल सकता है। रानी झाँसी और बाजीराव पेशवा द्वितीय के लिए इनके दिये आत्माहुतियो को कौन भला खारिज कर सकता है। नवाबी और मुसलमानी शासनों वाले उस दौर में यही इस भूमि पर भगवा लहराते चलते थे। स्वयं मिटे मगर धर्म और धरती की आन को कभी नहीं झुकने दिया। इनके इस अदम्य साहस शौर्य की प्रेरणा इन्ही कुम्भ मेलों से मिलती रही है। आपको अगर ये देखनी है तो कुंभ तक आना पड़ेगा। आज भी जब यहाँ पवित्र दिवसों पर होने वाले शाही स्नान पर इन संतों का पेशवाई जत्था निकलता है तो होने वाले जयघोष उद्घोष उस इतिहास कथा सुनाते नजर आते है। इन शुद्ध खालिस पवित्र साधु सैनिकों का दल जब क्रमबद्ध बाजे गाजे अस्त्र शस्त्र घोड़े हाथी के साथ निकलता है तो बरबस ही मुँह से निकल उठता है अतुल्य भारत- अदभुत संत और अविस्मरणीय क्षण।

(प्राच्य भारतीय ज्ञान परंपरा के अध्येता हैं।)

सर्वसिद्धिप्रद कुंभ का इतिहास और विज्ञान

— गौरीशंकर वैश्य विनम्र

कुंभ पर्व एक धार्मिक आयोजन है, जो भारत में चार स्थानों - प्रयागराज, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक में पवित्र नदियों के तट पर आयोजित किया जाता है। कुंभ के संबंध में यूनेस्को का मत है कि उपर्युक्त चारों स्थानों पर लगने वाला कुंभ मेला धार्मिक उत्सव के रूप में सहिष्णुता और समग्रता को दर्शाता है। प्रसिद्ध विद्वान मार्क ट्वेन ने कुंभ आयोजन को 'देवालय' कहा है। कुंभ विश्व का सबसे बड़ा सांस्कृतिक आयोजन है। 3 दिसंबर, 2017 को दक्षिण कोरिया के जेजू में यूनेस्को के अधीनस्थ संगठन 'अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर की सुरक्षा के लिए गठित अंतर्सरकारी समिति' की 12 वीं बैठक में 'कुंभ मेला' को 'मानवता की अमूर्त सांस्कृतिक धरोहर की प्रतिनिधि सूची' (रिप्रेजेंटेटिव लिस्ट आफ इंटैन्जिबिल कल्चरल हेरिटेज ह्यूमिनिटी) में सम्मिलित किया गया है। प्रयागराज के (गंगा, यमुना और अदृश्य सरस्वती) संगम तट पर लगने वाले कुंभ मेले का विशेष महत्व है। उत्तर प्रदेश पर्यटन विभाग ने 2019 में संगम तट पर आयोजित कुंभ के नाम में परिवर्तन करते हुए 'अर्धकुंभ ' को कुंभ और 'कुंभ' को महाकुंभ का नाम दिये जाने का निर्णय लिया। मेला को विशिष्ट बनाने के लिए 'एक टैगलाइन' तय कर दी, जिसे 'सर्वसिद्धिप्रद कुंभ' नाम दिया गया। कुंभ को 'अमृत महोत्सव' भी कहा जाता है। इस संदर्भ में हिन्दी के प्रसिद्ध कवि एवं निबंधकार हजारी प्रसाद द्विवेदी की कविता 'अमृत महोत्सव कुंभ का उल्लेख किया जा सकता है -

संतों लगा कुंभ का मेला।
एक हिलोर इधर से आई
एक हिलोर उधर से आई
फँसा भँवर बिच चेला।

संतों लगा कुंभ का मेला।
सब सखियाँ मिल सोहर गावैं
जन्मा राम गदेला।
संतों लगा कुंभ का मेला।
जय - जयकार भई त्रिभुवन में
साहेब खड़ा अकेला।
संतों लगा कुंभ का मेला।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कुंभ से संदर्भित उल्लास, आह्लाद, आस्था और अटूट विश्वास को उक्त काव्य - धारा में बड़े मनोरम ढंग से व्यक्त किया है। मेले में श्रीराम के जन्मोत्सव जैसा आह्लाद कुंभ से संदर्भित है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी श्रीरामचरितमानस में प्रयागराज में संगम स्नान के माहात्म्य का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक करते हुए कहा है कि मकर संक्रांति के पुण्य अवसर पर स्नान अत्यंत फलदायी होता है -

माघ मकरगत रवि जब होई।
तीरथपतिहिं आव सब कोई।

देव दनुज किन्नर नर श्रेनी।
सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी।

19 वीं शताब्दी में ह्वीलर के यात्रा - वृतांत में पर्ण - कुटियों में निवास करते कल्पवासियों तथा साधु - सन्यासियों एवं उनकी शोभा यात्रा का उल्लेख मिलता है। संभवतः यह कुंभ पर्व का अवसर रहा होगा। 1895 ई० में भारत आये लेखक मार्क ट्वेन ने अपनी पुस्तक 'मोर ट्रैप्स अवार्ड' में संगम तट के मेले का वर्णन किया है। ब्रिटिश लेखक टालवायज ने प्राचीन कुंभ मेला पर लिखी एक पुस्तक में कहा है कि वहाँ घास-फूस तथा बांस से बनी कुटियों, सोने - चाँदी, सूती - रेशमी वस्त्रों तथा अन्य मूल्यवान पदार्थों एवं दुकानों की शोभा देखते ही बनती है।

कुंभ की पौराणिकता

कुंभ की पौराणिकता एवं उसकी महत्ता वेदमंत्रों के दृष्टा, ज्ञान - विज्ञान के अनुसंधानकर्ता हमारे ऋषियों - मनीषियों की वाणी से स्वयं सिद्ध है। कुंभ शब्द की व्युत्पत्ति कुमि पूर्णे धातु से हुई है -

कुम्भयति अमृतेन पूरयति सकल क्षुत्पिपासादि
द्वंद्वजातम् निर्वतयित इति कुम्भः।

अर्थात जो अमृतमय जल से पूर्ण करता हो, उसे कुंभ कहते हैं। यह पर्व भी मानव - जीवन के अनेकानेक सांसारिक द्वंद्वों, बाधाओं को दूर करता हुआ, जीवन रूपी घट को ज्ञानामृत से भर देता है, इसलिए 'कुम्भ' कहा जाता है।

कुंभ उस कालविशेष को कहते हैं. जो आकाशमण्डल में ग्रह - राशि के योग से होता है।

सर्वप्रथम 'कुम्भ' का उल्लेख भारतीय आदिग्रंथ वेदों के अनेक मंत्रों में मिलता है, जिससे कुम्भ पर्व की पुरातनता स्वतः सिद्ध होती है -

जघानि वृत्रं स्वधितिर्वनेव रूरोज पुरो अरदन्न सिन्धून्।
बिभेद गिरिं नवभिन्न कुम्भभागा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः।।

अर्थात कुंभ पर्व में जाने वाला मनुष्य स्वयं दान - होमादि सत्कर्मों से अपने पापों को वैसे ही नष्ट करता है, जैसे कुठार वन को काट देता है। जिस प्रकार गंगा नदी अपने तटों को काटती हुई प्रवाहित होती है, उसी प्रकार कुंभ पर्व मनुष्य के पूर्व संचित कर्मों से प्राप्त हुए शारीरिक पापों को नष्ट करता है और नूतन घड़े की भाँति बादलों को नष्ट - भ्रष्टकर संसार में सुवृष्टि करता है।

इसी प्रकार शुक्लयजुर्वेद में (19 /97), सामवेद में (6/3) और अथर्ववेद में (19 /53/3) कुंभ पर्व का माहात्म्य बताया गया है।

अथर्ववेद के एक मंत्र में कुम्भ के चार स्थानों का उल्लेख है। ब्रह्मा जी कहते हैं - हे मनुष्यो! मैं तुम्हें ऐहिक तथा दैविक सुखों को देने वाले चार कुम्भ पर्वों का निर्माण कर चार स्थानों - हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक में प्रदान करता हूँ -

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णान् उदकेन् दध्मः।
(अथर्ववेद 4/34 /7)

कुंभ का अपना धार्मिक, पौराणिक, सांस्कृतिक महत्व तो है ही, इसका सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक और राजनीतिक महत्व भी कम नहीं है। यह हमें एक-दूसरे से जोड़ने का पर्व है, जिसके केन्द्र में है आस्था और विश्वास। यह जल के महत्व और उसकी वैज्ञानिकता से भी जुड़ा है। यह उत्तम कोटि का एक खगोलीय योग है। ग्रहों और नक्षत्रों के विशेष योग से कुंभ का प्रादुर्भाव होता है। इस विशेष योग में स्नान, दान - पुण्य और साधना का अपना अलग महत्व है। शास्त्रों में कहा गया है -

सहस्त्र कार्तिके स्नानं माघे शतानि च
वैशाखे नर्मदा कोटि कुम्भ स्नाने तत्फलम्।

अर्थात एक हजार कार्तिक स्नान, एक सौ माघ स्नान तथा नर्मदा में एक करोड़ वैशाख स्नान के समान एक कुम्भ का स्नान फल देता है।

कुंभ का पौराणिक संदर्भ समुद्र मंथन से जुड़ा है। विरोधी विचारधारा और मानसिकता के दो समुदाय जब मिलकर मंथन करते हैं, तो परिणाम को लेकर हिंसा और अराजकता भी अपना प्रभाव दिखाती है। कुछ ऐसा ही देवों और असुरों द्वारा किए गए समुद्र मंथन के समय भी हुआ होगा। कहते हैं कि समुद्र मंथन में कुल 14 रत्न निकले थे, जिनमें से अमृत को छोड़ कर शेष को देवों और असुरों ने आपसी सहमति से बाँट लिया था, किन्तु अमृत- कलश को लेकर अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई।

असुरों ने सोचा कि यदि इस अमृत कलश पर उनका आधिपत्य हो जाए, तो वे अमरत्व प्राप्त करेंगे और इनकी सत्ता

अक्षुण्ण रहेगी। देवगण ऐसा कदापि नहीं चाहते थे। देवराज इन्द्र ने अमृत कलश बचाने के लिए अपने पुत्र जयंत को संकेत किया। वह अमृत कलश को लेकर भागा, इस बीच उसने हरिद्वार, प्रयाग. उज्जैन और नासिक में अमृत कलश को रखा, जहाँ अमृत की कुछ बूँदें छलकीं। ये स्थान अमृतमय हो गए और कुंभ रूप में अमृत महोत्सव की शुरुआत हुई।देवों और असुरों का युद्ध 12 दिन चला था तथा देवताओं का एक दिन एक मानव वर्ष के बराबर होता है, इसलिए प्रत्येक 12 वर्ष के बाद उक्त चारों पवित्र स्थलों पर कुंभ पर्व होता है, जिसे शंकरादि देवगण ने 'कुंभ योग' कहा है।

कुछ मनीषियों के अनुसार, देवताओं और असुरों मे, जो 12 दिवस (देव दिवस) युद्ध चला था, उसमें चार कुंभ पृथ्वी लोक में तथा आठ कुंभ देवलोक में होते हैं, जिन्हें केवल देवगण ही प्राप्त कर सकते है, मनुष्य की वहाँ पहुँच नहीं है -

देवानां द्वादशाहोभिर्मर्त्यैर्द्वादशवत्सरैः।
जायंते कुम्भपर्वाणि तथा द्वादश संख्यया:।

परंपरागत रूप से इन स्थानों पर कुंभ के आयोजन आदि को जगतगुरु शंकराचार्य ने व्यवस्थित स्वरूप दिया। शास्त्रों के अनुसार, जिस समय बृहस्पति मेष राशि पर स्थित हो तथा चंद्रमा और सूर्य मकर राशि पर हों, उस समय अमावस्या को तीर्थराज प्रयाग में कुंभ पर्व का योग होता है।

मेषराशिं गते जीवे मकरे चंद्र भास्करौ।
अमावस्यां तदा योगः कुम्भाख्यस्तीर्थ नायके।।

ऐसे ही अन्य स्थानों के लिए कुंभ योग पूर्वनिर्धारित है।

कुंभ की दार्शनिकता

कुंभ का अर्थ है 'कलश'।लौकिक जगत में कुंभ का निर्माण कुंभकार 'चाक' पर पंचतत्वों के माध्यम से करता है। सृष्टि का सृजन ब्रह्मा भी पंचतत्वों से करते हैं। सृष्टि में जल ही जीवन है। घड़े में जल रखने की परंपरा आदिकाल से है। कुंभ के विषय में वेदों में दार्शनिक विवेचन निम्नवत मिलता है -

कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाहितः।
मूल त्वस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः।।
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदो सामवेदो ह्यथर्वणः।।

अर्थात कलश के मुख में भगवान विष्णु, कण्ठ में रुद्र, मूल में ब्रह्मा, मध्य भाग में सभी देवियाँ तथा कुक्षि (अन्तवस्था) में संपूर्ण सागर, पृथ्वी में निहित सप्तदीप तथा चारों वेदों का समन्वयात्मक स्वरूप विद्यमान है।

मानव शरीर भी एक कुंभ के समान है। मानव शरीर रूपी कुंभ से ही अमरत्व की प्राप्ति संभव है। इसी अमृतत्व की प्राप्ति के लिए कुंभ पर्व मनाया जाता है। शरीर के विद्यमान रहने पर भी ब्रह्म रूप में अवस्थित हो जाना ही अमृत की प्राप्ति है। मानव के समस्त पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के पूर्ण होने का साधन यह कुंभ पर्व है. इसका शास्त्रों में उल्लेख भी है।

स्वामी चिदानन्द सरस्वती ने कहा- 'कुंभ दर्शन है, प्रदर्शन नहीं है। कुंभ हमारी ताकत है, जिसके संरक्षण की आवश्यकता है। कुंभ सागर मंथन नहीं, अपितु स्वयं के मंथन की यात्रा है, जो स्वयं को स्वयं से तथा स्वयं से सर्व की यात्रा है।'

कुंभ पर्व की ऐतिहासिकता

कुंभ पर्व का आरम्भ और प्रचलन कब से हुआ, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। वेदों और पुराणों में इसका उल्लेख होने के कारण इसकी प्राचीनता असंदिग्ध है। कुंभ मेले का धार्मिक स्वरूप क्रमशः परिवर्तित होता रहा और यह देश का ही नहीं, संपूर्ण विश्व का सबसे बड़ा आयोजन बन गया।

कतिपय विद्वान गुप्तकाल से कुंभ के आयोजन को सुव्यवस्थित होना बताते हैं। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने 'भारत वर्णन' में कुंभ मेले की चर्चा की है। उसके अनुसार प्रामाणिक तथ्य सम्राट हर्षवर्द्धन के राज्यकाल (617-647ई०) के समय से प्राप्त होते हैं, जिसका वर्णन बाणभट्ट के 'हर्षचरित' में भी मिलता है। ह्वेनसांग ने हर्षवर्द्धन की दानवीरता की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि राजा हर्षवर्द्धन हर पाँच वर्ष में नदियों के संगम पर एक बड़ा आयोजन करते थे, जिसमें वे अपना पूरा कोष गरीबों और धार्मिक लोगों को दान में देते थे।

कुंभ स्नान की वैज्ञानिकता

आज का विज्ञान कहता है कि ब्रहस्पति को सूर्य की परिक्रमा में 12 वर्ष लगते हैं और यह तथ्य हमारे ऋषि - मनीषियों को

बहुत पहले से ही ज्ञात था, कुंभ ब्रहस्पति ग्रह की गति पर ही निर्भर करता है। ज्योतिष के अनुसार ब्रहस्पति 12 वर्ष में एक बार सभी 12 राशियों का भ्रमण करता है। इसी कारण से प्रत्येक 12 वर्ष में कुंभ मेले का आयोजन किया जाता है।

कुंभ मेले में सूर्य, चंद्रमा और ब्रहस्पति जैसे ग्रहों की स्थिति का विशेष महत्व होता है, इन ग्रहों के विशेष संयोग से कुंभ मेले में स्नान - दान और पूजा-पाठ को अत्यंत शुभ माना जाता है।कुंभ मेले के बीच गंगा जल को औषधीकृत माना जाता है। शोध में ऐसा सिद्ध हुआ है कि इस समय गंगा का जल सकारात्मक ऊर्जा से भरा रहता है। इस काल में सभी नदियों को अमृतमयी माना जाता है।

कुंभ मेला उन विशिष्ट स्थानों पर आयोजित किए जाते हैं, जहाँ पर एक संपूर्ण ऊर्जा मण्डल तैयार किया गया था। चूँकि हमारी पृथ्वी अपनी धुरी पर घूम रही है, इसलिए यह एक 'अपकेन्द्रीय बल' वाली ऊर्जा उत्पन्न करती है। पृथ्वी के 0 से 33 डिग्री अक्षांश में यह ऊर्जा हमारे तंत्र पर मुख्य रूप से लंबवत तथा ऊर्ध्व दिशा में काम करती है। प्रायः 11 डिग्री अक्षांश पर तो ये ऊर्जाएं बिल्कुल सीधे ऊपर की ओर जाती हैं। इसलिए हमारे प्राचीन ऋषि - मुनियों ने गणना करके पृथ्वी पर ऐसे स्थानों को तय किया, जहाँ इस घटना का विशेष प्रभाव पड़ता है। इन स्थानों पर नदियों का समागम है, इसलिए इनमें स्नान का विशेष लाभ है।

हमारे देश में सदैव से मुक्ति ही परम लक्ष्य रहा है। हमारी संस्कृति में आंतरिक विज्ञान को जितनी गहराई से समझा गया है, ऐसी समझ पृथ्वी पर किसी दूसरी संस्कृति में नहीं मिलती।

कुंभ का सामाजिक महत्व

कुंभ केवल धर्म - कर्म, पूजा-पाठ और साधना का आयोजन मात्र नहीं है, अपितु शस्त्र - शास्त्र और विद्वता से भी इसका संबंध है। इस अवसर पर ज्ञान - विज्ञान से जुड़े बड़े-बड़े आयोजन होते हैं। सम्मेलनों में धर्म, दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद, साहित्य, संस्कृति और कला पर गंभीर मंथन होता है। इतना ही नहीं, इस कालखण्ड से जुड़ी विसंगतियों, विडंबनाओं और समस्याओं पर भी गंभीर चिन्तन - मनन होता है। संत समाज से जुड़ी अनूठी परंपराएं भी कुंभ में देखने को मिलती हैं। कुंभ मेले में अनेक संत - महात्माओं, साधु - सन्यासियों तथा धर्म गुरुओं के दर्शन होते हैं। शास्त्र के साथ शस्त्र की भी परंपरा इस अवसर पर देखने को मिलती है, जिसके मूल में धर्म - रक्षा का भाव रहता है। विविध प्रांतों की कला - संस्कृति देखकर मनोरंजन और ज्ञान में वृद्धि होती है। आशय यह है कि कुंभ में भाग लेकर हम मन - प्राण और बुद्धि का संतुलित समन्वय स्थापित कर अमृत रूपी चेतना को प्राप्त करते हैं। यह चेतना हमें साधना और संयम से मिलती है, जिसका सर्वोत्तम समय कुंभ काल है।

कुंभ का वर्तमान स्वरूप

कुंभ एक ऐसा महाआयोजन है, जिसकी विराटता अप्रतिम है। धर्म, अध्यात्म. ज्ञान - विज्ञान. भाषा, विचार, अंतरप्रांतीय संस्कृतियों एवं संस्कारों का समागम कुंभ में होता है। केवल भारत से ही नहीं, अपितु विदेशों से भी श्रद्धालु पर्याप्त संख्या में लोग आकर इस विराट आयोजन के साक्षी बनते हैं।

कुंभ कहीं भी आयोजित हो, एक लघु भारत वहाँ बसता है। विविधता में एकता का दृश्य वहाँ उपस्थित होता है।

धीरे-धीरे कुंभ के स्वरूप में परिवर्तन हुआ है। कुंभ अब केवल धर्म - आस्था का मेला नहीं रहा, अपितु इसके समान्तर मीडिया, ग्लैमर का भी कुंभ होने लगा है। व्यवसाय और वाणिज्यिक गतिविधियाँ भी इसमें सम्मिलित हैं। कुंभ अब इंटरनेट से जुड़ गया है। वेबसाइट बन गई है, एक क्लिक के साथ तमाम सूचनाएँ और जानकारियाँ कंप्यूटर स्क्रीन पर आ जाती हैं। सूचना एवं संचार के माध्यमों से मजबूती से जुड़ाव का हमें लाभ मिल रहा है।

कुंभ पर आधुनिकता का प्रभाव भले ही बढ़ा है, किन्तु इससे आस्था के अविरल प्रवाह में कोई अवरोध नहीं है। आधुनिक तकनीकी और सूचना तंत्र ने तो आस्थावानों के रास्ते को और सुगम बनाया है। कुंभ पर्व द्वारा हमारी संस्कृति को नए आयाम मिलते हैं और भारत की छवि दुनिया के समक्ष और गरिमामयी हो जाती है। निःसंदेह एकता, साम्य और चेतना का महाबोध करवाने वाला यह पर्व अतुलनीय है, अनुपम है, अप्रतिम है, अद्भुत है।

(117, आदिलनगर, विकासनगर
लखनऊ–226022, उत्तर प्रदेश)

कुम्भ मेला : संचार-संवाद का महापर्व

— लोकेन्द्र सिंह

हम भारत के लोगों के लिए तो नहीं, लेकिन दुनिया के लिए यह आश्चर्य और जिज्ञासा का विषय रहता है कि खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा और पूजा पद्धति में अत्यधिक विविधता होने के बाद भी भारत में एकत्व कैसे है? वे कौन-से कारण या पद्धति हैं, जिनसे यह भारत सांस्कृतिक रूप से एक है? यह विशाल देश किस तरह संवाद कर समय के साथ आने वाले परिवर्तनों को स्वीकार करते हुए आगे बढ़ता है? 'भारत एक राष्ट्र' और 'राष्ट्र सबसे पहले' की भावना प्रत्येक मन में कैसे अभिव्यक्त होती है? भारत को एकसूत्र में पिरोने वाले तत्व को रेखांकित करते हुए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सह-सरकार्यवाह श्री मनमोहन वैद्य कहते हैं कि "भारतीय संस्कृति की आत्मा कहें या फिर आधार, वह अध्यात्म है। भारत के चिंतन का आधार भी अध्यात्म ही है। जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टि, सर्वमावेशी सिद्धाँत, विद्या एवं अविद्या की परंपरा, यह भारत की विशेषता है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में रामसेतु तक विस्तारित यह विशाल देश जिस 'एक सूत्र' में बंधा है, उसका नाम है- अध्यात्म"। भारत में जीवन को देखने की एक विशिष्ट दृष्टि है। यहाँ अनेक विविधताओं को जोड़ने वाला तत्व अध्यात्म है। इसी कारण हम मानते हैं कि सबमें एक ही तत्व व्याप्त है। सब एक ही चैतन्य का अंश हैं। इसी विचार के कारण हम अनेकता में एकता को आसानी से स्वीकार कर लेते हैं। क्योंकि हमारा मानना है कि एक ही तत्व है, जो अनेकता में अभिव्यक्त हुआ है। पश्चिम के लोग जब भारत आए तो उन्हें यह समझ नहीं आया कि यह एक देश कैसे हो सकता है? इस विविधतापूर्ण भूभाग को कौन-सा तत्व एक राष्ट्र बनाता है? विशाल आकार और बड़ी जनसंख्या का यह देश कैसे संवाद करता है? कैसे इसके सामाजिक नियम एवं जीवन मूल्य तय होते हैं? कैसे वह लोगों के बीच प्रसारित होते हैं? विविधता के बावजूद भारतीय संस्कृति में जो एकरूपता दिखाई देती है, वह किसी जादुई कल्पना से कम नहीं है। यह पश्चिम के लिए आश्चर्य का विषय हो सकती है, किंतु भारतीयों के लिए यह सहज है। यद्यपि विदेशी दृष्टिकोण से भारतीय संस्कृति को देखने का प्रयास करने वाले विद्वानों के लिए भी इसे समझना दुरूह है। पश्चिम की परिभाषाओं, अवधारणाओं और मापदण्डों के आधार पर भारत को समझना मुश्किल है। भारत को समझने के लिए सबसे पहले भारत को मानो, फिर भारत को जानो और उसके बाद भारत के बनो, तब आप भारत को नजदीक से समझ पाएंगे। भारत को भारतीय दृष्टिकोण से देखेंगे तो पाएंगे कि यहाँ विविधता में भेद नहीं है। यद्यपि उत्सवों, पर्वों, रीति-रिवाज, परंपराओं, मान्यताओं, रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा में विविधता स्पष्ट झलकती है, किंतु भीतर से यह सब आपस में एक धागे से बंधे हैं। सबको जोड़ने वाला, एक सूत्र में पिरोने वाला और एक साथ लाने वाला एक तत्व है। इसी एक तत्व के कारण 'कुम्भ' में समूचा भारत एकत्र आता है।

भारतीय संस्कृति का सबसे बड़ा प्रकटोत्सव है- कुम्भ मेला। प्रत्येक तीन वर्ष के अंतर पर देश के चार प्रमुख स्थानों (हरिद्वार, प्रयाग, उज्जैन और नासिक) पर कुम्भ मेले का आयोजन किया जाता है। जहाँ भारत के प्रत्येक हिस्से से नागरिक एकत्र आते हैं और साझी विरासत पर आनंद व्यक्त करने के साथ ही उसे समृद्ध करने की दिशा में विचार-विमर्श करते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में कुम्भ मात्र एक धार्मिक समागम की

तरह दिखाई देता है, परंतु इसके मूल में एक बड़ा सामाजिक उद्देश्य था। इस सामाजिक उद्देश्य को और स्पष्ट करते हुए माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. बृज किशोर कुठियाला ने 'मीडिया नवचिंतन' के कुम्भ विशेषांक (जनवरी-मार्च 2016) की प्रस्तावना में लिखा है- "कुम्भ की कल्पना मात्र मेले की नहीं है। यह बहुउद्देशीय परियोजना है। सबसे बड़ा उद्देश्य तो महासंवाद स्थापित करने का है। वर्षों तप करके तपस्वी कुम्भ में जिज्ञासुओं को नये ज्ञान की शिक्षा-दीक्षा देते थे। यही गृहस्थ और संत जिज्ञासु वापस अपने-अपने स्थान पर जाकर आम समाज तक उस ज्ञान का प्रचार-प्रसार करते थे। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक ऋषियों-मुनियों द्वारा अर्जित ज्ञान-विज्ञान को जनमानस तक पहुँचाने का कार्य कुम्भ का कुम्भ का मुख्य उद्देश्य था"। हम देखते हैं कि भले ही आज कुम्भ अपने वास्तविक स्वरूप से हटा है, लेकिन कहीं न कहीं अभी संचार-संवाद के अवशेष आज भी कुम्भ मेलों में दिखाई देते हैं। अध्यात्मिक पुरुष/संस्थान कुम्भ में अब भी अपने अनुयायियों और समाज के सामान्य जनों को प्रवचन देते हैं। सत्संग होता है। देशभर से लोग कुम्भ में पहुँचते हैं और वहां चिंतन करते हैं। ज्ञान का आदान-प्रदान करते हैं। कुम्भ मेले से ही प्रेरित होकर देशभर में विभिन्न स्थानों पर होने वाले मेलों में भी संवाद-संचार का यह स्वरूप दिखाई देता है। मैं जब अपने गाँव में देवी मंदिर के प्रांगण में लगने वाले मेले को देखता हूँ तो यही सब बातें लघु रूप में पाता हूँ। गाँव-नगर के इन परम्परागत धार्मिक मेलों में समाज के लिए नियम/व्यवहार तय होता है। आपसी विवादों का समाधान भी संवाद के माध्यम से होता है। यहाँ तक कि वैवाहिक रिश्ते के लिए संवाद का केंद्र भी ये परम्परागत मेले बनते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि आज के आधुनिक युग में भी भारत भर में सर्वत्र होने वाला ऐसा हरेक सांस्कृतिक जमावड़ा आस्था-विश्वास और समाज में सहज संवाद का जीवंत उदाहरण है।

पिछले कुछ वर्षों में सुखद आहट हुई है। कुम्भ मेलों को उनका वास्तविक रूप देने के प्रयत्न प्रारंभ हुए हैं। इसकी पहलकदमी मध्यप्रदेश की पवित्र नगरी उज्जैन में आयोजित होने वाले सिंहस्थ कुम्भ से हुई। वर्ष 2016 में सिंहस्थ में अंतरराष्ट्रीय वैचारिक महाकुम्भ की परम्परा प्रारंभ हुई। यह शुभ प्रयास उत्तरप्रदेश की पवित्र नगरी प्रयाग में आयोजित कुम्भ में भी होते हुए दिखाई दिए।

निस्संदेह, कुम्भ मेले में ऋषि परंपरा (बौद्धिक संस्था) के विद्वान समाज की वर्तमान स्थिति पर विचार-विमर्श करते हैं, जीवनमूल्यों की कसौटी पर सामाजिक जीवन की गति का परीक्षण करते हैं और भविष्य को ध्यान में रखकर आवश्यक सामाजिक नियम बनाते हैं। भारत के स्वर्णिम इतिहास के पन्नों में दर्ज है कि देश और समाज को सन्मार्ग पर लाने के लिए हमारे मनीषी कुम्भ का उपयोग करते थे। समय के अनुसार समाज को किन बातों को अपनाना चाहिए और किन बातों को त्याग देना चाहिए, कुम्भ में इस संबंध में विमर्श किया जाता था। समाज में मूल्य और धर्म (कर्तव्य) की हानि तो नहीं हो रही, इस दिशा में ऋषि, महर्षि, संत-महात्मा गहन मंथन करते थे। इस वैचारिक मंथन से ही अमृत की बूंदें निकलती थीं, जो समाज को पुष्ट करती थीं। देशभर से कुम्भ में आने वाले लोग इन अमृत की बूंदों को लेकर समाज में जाते थे। इस

तरह कुम्भ समाज में मूल्य और धर्म की स्थापना के लिए विमर्श केन्द्र थे।

हमारे यहाँ एक कहावत है- 'कोस-कोस पर बदले पानी, चार कोस पर बानी'। अर्थात् भारत में ऐसी विविधता है कि थोड़-थोड़े अंतराल पर लोगों की भाषा-बोली और खान-पान में अंतर आ जाता है। चूँकि सब एक संस्कृति के हिस्से हैं, सब एक सांस्कृतिक राष्ट्र भारत के हिस्से हैं, इसलिए समय-समय पर उनका आपस का संवाद आवश्यक हो जाता है ताकि उनका सांस्कृतिक जोड़ मजबूत बना रहे। निश्चित तौर पर कहा जा सकता है कि कुम्भ मेले के आयोजन की परंपरा इसीलिए शुरू हुई होगी। कुम्भ मात्र मेले की कल्पना से प्रारंभ नहीं हुए। इसके आयोजन के पीछे अनेक उद्देश्य शामिल हैं। यह आपसी संवाद का सबसे बड़ा समागम है, जहाँ बिना किसी आमंत्रण के भारत ही नहीं, अपितु दुनिया भर से लोग जुटते हैं। इनमें भारतीय ज्ञान, मेधा, धर्म, संप्रदाय, पंथ अखाड़ों-मठों, धार्मिक गद्दियों, गुरुओं की सभी परंपराओं, आस्थाओं और विश्वास को मानने वाले, यहां तक कि नास्तिक भी होते हैं।

कुंभ मेले के संबंध में यदि कहा जाए कि यह सांस्कृतिक भारत के दर्शन का उत्सव है, तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी। ईशा फांउडेशन के संस्थापक सद्गुरु जग्गी वासुदेव कहते हैं कि "भारतीय संस्कृति इस धरती पर सबसे जटिल और रंगबिरंगी संस्कृति है। अगर आप गौर से देखें, तो पाएंगे कि हर पचास से सौ किलोमीटर पर लोगों के जीने का तरीका ही बदल जाता

> ***हिन्दू धर्मग्रंथों में कुम्भ पर्व के सम्बन्ध में तीन कथाएं प्रचलित हैं- महर्षि दुर्वासा की कथा, कद्रू-विनता की कथा और समुद्र-मंथन की कथा। इन तीनों कथाओं में सर्वाधिक महत्ता समुद्र-मंथन की कथा को मिलती हैं। इनमें से पहली कथा में वर्णन आता है कि एक समय में अपने हाथी पर सवार होकर दुर्वासा मुनि से भेंट करने पहुंचे देवताओं के राजा इंद्र को मुनि ने प्रसन्न होकर विशिष्ट हार दिया था।***

है। एक स्थान ऐसा है जहां इस जटिल संस्कृति को आप वाकई बहुत करीब से देख सकते हैं, वह है-कुंभ मेला"। इसके साथ ही उन्होंने अपने अनुभव का वर्णन करते हुए लिख है- "मैं वहां रात के दो बजे पहुंचा और दुनिया के एक सबसे अद्भुत दृश्य को देखा। मैंने देखा कि वहां देश के अलग-अलग भागों से आए नाना प्रकार के लोग चारों तरफ बैठे थे। उनके पास सोने की कोई जगह नहीं थी इसलिए वे अलग-अलग जगहों पर आग जलाकर उसके चारों ओर बिखरे, अपनी भाषा व बोली में अपनी-अपनी संस्कृति और परंपरा के गीत गाते नाच रहे थे। मानव जाति के सबसे अधम इंसान से लेकर उत्तम इंसान, सभी वहां मौजूद थे। हजारों साल से लोग इसी तरह यहां जमा होते आ रहे हैं। इसका एक अपना सामाजिक आधार होने के साथ-साथ विशेष आध्यात्मिक शक्ति भी है"। सद्गुरु जग्गी वासुदेव के इस अनुभव से भी यही पता चलता है कि कुम्भ में आने वाला जनसामान्य अपने विचारों, अपनी कला-संस्कृति, अपने जीवन-मूल्यों को प्रकट करता है, शेष भारत के साथ साझा करता है। कुम्भ इस बात को भी रेखांकित करता है कि ज्ञान के इस मेले में कोई छोटा या बड़ा नहीं, कोई अस्पृश्य नहीं, लोगों में किसी प्रकार का सामाजिक भेद नहीं। सब पवित्र नदियों में एक साथ डुबकी लगाते हैं और एक साथ बैठ कर सत्संग में जीवन का सार समझते हैं।

हिन्दू धर्मग्रंथों में कुम्भ पर्व के सम्बन्ध में तीन कथाएं प्रचलित हैं- महर्षि दुर्वासा की कथा, कद्रू-विनता की कथा और समुद्र-मंथन की कथा। इन तीनों कथाओं में सर्वाधिक महत्ता समुद्र-मंथन की कथा को मिलती हैं। इनमें से पहली कथा में वर्णन आता है कि एक समय में अपने हाथी पर सवार होकर दुर्वासा मुनि से भेंट करने पहुंचे देवताओं के राजा इंद्र को मुनि ने प्रसन्न होकर विशिष्ट हार दिया था। इंद्र ने हार ग्रहण तो किया लेकिन स्वयं न पहनकर उसे अपने हाथी के मस्तक पर धर दिया। हार से निकल रही गंध से बेचैन हुए उस हाथी ने अपनी गर्दन झटककर हार नीचे फेंक दिया। दिव्य माला के इस असहनीय अपमान क्रोधित हो ऋषि दुर्वासा ने इंद्र को शाप दिया कि इस अवज्ञा के कारण इंद्र और उनके सभी देवता श्रीहीन तथा शक्तिहीन हो जाएंगे

और अपना राजपाट और समस्त वैभव गंवा बैठेंगे। इस घटना के बाद हुए देवताओं और असुरों के संग्राम में शक्तिहीन देवता परास्त हो गए और देवलोक दानवों के कब्जे में आ गया। तब कहा जाता है कि दु:खी देवता विष्णु के पास गए, जिन्होंने उन्हें समझया कि असुरों पर विजय पाने के लिए उन्हें बुद्धिमानी से काम लेना चाहिए। इसके बाद देवताओं ने असुरों के साथ गठजोड़ कर लिया और उन्हें सुझाया कि अमर कर देने वाला 'अमृत' दुग्ध-सागर के तल में है और इसके साथ ही अनेक अनमोल रत्न और उपहार भी समुद्र में छिपे हैं। देवताओं ने असुरों को समुद्र-मंथन कर अमर कर देने वाला 'अमृत' और दूसरे रत्न निकालने के लिए राजी कर लिया। इस समुद्र-मंथन के सबसे अंत में देवताओं के चिकित्सक धन्वंतरी हाथों में अमृत-कलश लिए बाहर आए और उसे हासिल करने के लिए असुरों और देवताओं संग्राम छिड़ गया। कहा जाता है कि असुरों से बचाने के लिए देवताओं ने अमृत-कलश को चार स्थानों- प्रयाग, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक में छिपाया जहां अमृत की कुछ बूँदें गिरीं। इससे इन चारों स्थानों को दैवीय महत्व प्राप्त हुआ।

दूसरी कथा प्रजापति कश्यप की दो पत्नियों के सौतियाडाह से संबद्ध है। विवाद इस बात पर हुआ कि सूर्य के अश्व काले हैं या सफेद। जिसकी बात झूठी निकलेगी वही दासी बन जाएगी। कद्रू के पुत्र थे नागराज वासु और विनता के पुत्र थे वैनतेय गरुड़। कद्रू ने अपने नागवंशों को प्रेरित करके उनके कालेपन से सूर्य के अश्वों को ढंक दिया फलतः विनता हार गई। दासी के रूप में अपने को असहाय संकट से छुड़ाने के लिए विनता ने अपने पुत्र गरुड़ से कहा, तो उन्होंने पूछा कि ऐसा कैसे हो सकता है। कद्रू ने शर्त रखी कि नागलोक से वासुकि-रक्षित अमृत-कुंभ जब भी कोई ला देगा, मैं उसे दासत्व से मुक्ति दे दूंगी। विनता ने अपने पुत्र को यह दायित्व सौंपा जिसमें वे सफल हुए। गरुड़ अमृत कलश को लेकर भू-लोक होते हुए अपने पिता कश्यप मुनि के उत्तराखंड में गंधमादन पर्वत पर स्थित आश्रम के लिए चल पड़े। उधर, वासुकि ने इन्द्र को सूचना दे दी। इन्द्र ने गरुड़ पर चार बार आक्रमण किया और चारों प्रसिद्ध स्थानों पर कुंभ का अमृत छलका जिससे कुंभ पर्व की धारणा उत्पन्न हुई।

तीसरी कथा के अनुसार, कश्यप ऋषि का विवाह दक्ष प्रजापति की पुत्रियों दिति और अदिति के साथ हुआ था। अदिति से देवों की उत्पत्ति हुई तथा दिति से दैत्य पैदा हुए। एक ही पिता की संतान होने के कारण दोनों ने एक बार संकल्प लिया कि वे समुद्र में छुपी हुई बहुत-सी विभूतियों एवं संपत्ति को प्राप्त कर उसका उपयोग करें, इस प्रकार समुद्र मंथन एकमात्र उपाय था। समुद्र मंथन के बाद 14 रत्न प्राप्त हुए, जिनमें से एक अमृत कलश भी था। इस अमृत कलश को प्राप्त करने के लिए देवताओं और दैत्यों के बीच युद्ध छिड़ गया, क्योंकि उसे पीकर दोनों अमरत्व की प्राप्ति करना चाह रहे थे। स्थिति बिगड़ते देख देवराज इंद्र ने अपने पुत्र जयंत को संकेत किया और जयंत अमृत कलश लेकर भागा। इस पर दैत्यों ने उसका पीछा किया। अमृत कलश के लिए देवताओं और दैत्यों के बीच 12 दिनों तक भयंकर संघर्ष हुआ। इस संघर्ष के दौरान अमृत कुंभ को सुरक्षित रखने में बृहस्पति, सूर्य और चंद्रमा ने बड़ी सहायता की। बृहस्पति ने दैत्यों के हाथों में जाने से कुंभ को बचाया। सूर्य को कुम्भ की फूटने से रक्षा की और चंद्रमा ने अमृत छलकने नहीं दिया। फिर भी संग्राम के दौरान मची उथल-पुथल से अमृत कुंभ से चार बूँदें छलक ही गईं। कुम्भ से अमृत की बूँदें छलक कर जिन स्थानों पर गिरीं, वे हैं- प्रयाग, हरिद्वार, नासिक तथा उज्जैन। इन चारों स्थानों पर जिस-जिस समय अमृत गिरा उस समय सूर्य, चन्द्र, गुरु आदि ग्रह-नक्षत्रों की जो स्थिति थी, वैसी ही स्थिति-योग बनने पर कुम्भ पर्व मनाये जाने लगे।

हम चाहें तो इस कथा को महज पौराणिक मान सकते हैं। या फिर इस कथा के वैज्ञानिक और वैचारिक पहलुओं की ओर भी ध्यान दिया जा सकता है। कुम्भ आयोजन में भारतीय मनीषियों के खगोल विज्ञान की गहरी समझ भी दिखाई देती है। वर्तमान विज्ञान के आधार पर यह कहा जाता है कि कुम्भ के समय 0 से 30 अक्षांश पर जलधाराओं से पृथ्वी का अपकेन्द्रित बल (सेंट्रीफ्यूगल फोर्स) लगभग 90 डिग्री अर्थात पूर्णशक्ति से उपलब्ध होता है। ब्रह्मांड की यह स्थिति मनुष्य के शरीर में केंद्रित होकर मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाती है। वैसे तो जलाशयों और जलधाराओं में वर्ष में कई बार एकत्रीकरण होता है परंतु बृहस्पति, पृथ्वी

और सूर्य की परम विशिष्ट परिस्थितियों में उज्जैन, हरिद्वार, प्रयाग और नासिक के कुंभ होते हैं। तमिलनाडु में भी कुंभाकरण में जलाशय पर एकत्रीकरण होता है। यह शोध का विषय है कि नक्षत्रों की इन परिस्थितियों में ही यह कुंभ क्यों होते हैं? क्या इन परिस्थितियों में ज्ञान-विज्ञान की साधना का सुफल प्राप्त होता है? हर कुंभ के समय कल्पवास का भी प्रचलन भारतीय समाज में है। अनेक गृहस्थ और संन्यासी संकल्प करते हैं कि कुंभ के 42 दिन वे उसी स्थान पर ही निवास करेंगे। एक समय खुद का पकाया हुआ भोजन करेंगे और शेष समय जलधाराओं के आसपास आध्यात्मिक चिंतन, श्रवण और मंथन करेंगे। मनुष्य की आत्मा की आध्यात्मिक यात्रा का यह बड़ा उत्सव है।

कुंभ भारतीय परंपरा का एक महती अवसर, और उत्सव है। लेकिन समय के साथ इसे धार्मिक-सांस्कृतिक मेले का स्वरूप प्राप्त हो गया है। आदिकाल में यह उत्सव छोटा होता था। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत के अपने यात्रा-वृत्तांत में प्रयाग में माघ महीने में 75 दिन तक आयोजित हुए कुंभ का वर्णन किया है जिसमें 5 लाख आस्थावान उपस्थित थे। वह लिखता है कि तीर्थयात्री अपने-अपने राजाओं, उनके मंत्रियों, विद्वानों, दर्शनशास्त्रियों और ऋषियों के साथ कुंभ में पहुंचे थे। ह्वेनसांग का वर्णन है कि राजाओं ने बड़ी मात्रा में स्वर्ण, चांदी और रत्नों का दान किया ताकि उनका जीवन पवित्र हो जाए और उनको स्वर्ग में स्थान मिल सके।

लेकिन आठवीं शताब्दी के बाद से इसका स्वरूप व्यापक होने लगा, जब आदि शंकराचार्य (जिन्होंने भारत के सनातन हिंदू धर्म की विदेशी आक्रांताओं से रक्षा के लिए देश के चार कोनों में न सिर्फ चार मठ, बल्कि युद्धकला में कुशल नागा साधुओं के अखाड़े भी स्थापित किए) ने कुंभ की महत्ता का ज्ञान भारत के लोगों को कराया और इसे उनमें लोकप्रिय बनाया। शंकराचार्य जानते थे कि भारत के लिए शास्त्र (ज्ञान) और शस्त्र (हथियार) दोनों आवश्यक हैं। इसलिए उन्होंने शास्त्रों को आचार्यों के अध्ययन-मनन का विषय बनाया तो शस्त्रों को नागा साधुओं का 'आभूषण' बनाया। आदि शंकराचार्य ने इस बात का खास ध्यान रखा कि कुंभ ज्ञानियों-मनीषियों-विद्वानों तथा आम भारतीयों में धार्मिक-आध्यात्मिक और लौकिक संवाद का अवसर बने। इसके लिए उन्होंने आम लोगों को पवित्र स्नान के साथ ही कुंभ में आने वाले ऋषि-मुनियों-ज्ञानियों-संतों-विद्वानों से चर्चा और उनके प्रवचन और व्याख्याएं ग्रहण करने को प्रेरित किया। इसलिए आज भी कुंभ में आने वाला प्रत्येक आस्थावान पवित्र जल में स्नान के साथ ही 13 अखाड़ों से जुड़े और दूसरे भी कई विद्वानों-मनीषियों की संगत का भी लाभ उठाता है।

माना जाता है कि विश्व की अधिकतर प्राचीन सभ्यताएं नदियों के तटों पर या उनके आसपास के क्षेत्रों में विकसित हुई हैं। भारत भी इसका अपवाद नहीं है। सिंधु घाटी, हडप्पा और मोएंजो-दरो से शुरू हुआ इसकी सभ्यता की प्रगति का क्रम शेष भारत में भी देखने को मिलता है। गंगा, यमुना, अदृश्य सरस्वती, गोदावरी, कृष्णा, शिप्रा जैसी पवित्र नदियों से लेकर दूसरी प्रमुख नदियों के तटीय इलाकों से विकसित हुई सभ्यता इस विशाल भूभाग भर में एक-सी फैली। देश के अनेक प्रमुख तीर्थ इन पावन सलिलाओं के आसपास बसे प्रयाग, काशी, मथुरा, हरिद्वार, नासिक, उज्जयिनी में हैं तो इसलिए कि यहां निश्चित समयावधियों में आयोजित होने वाले जन-समागम और स्नानपर्व पाप प्रक्षालन तथा मुक्ति और मोक्ष प्राप्ति के लिए ही नहीं धर्म, शास्त्र, ज्ञान-विज्ञान के सिद्धांतों तथा लोकाचार, परंपराओं, रीति-रिवाजों की व्याख्या-पुनर्व्याख्या और संस्थापनाओं के भी जाने गए।

पवित्र नदियों के तटों पर होने वाले ये विशाल जन-समागम आत्मशुद्धि के लिए किए जाने वाले स्नान पर्वों, तीज-त्यौहारों, व्रत-उपवासों और पवित्र तिथियों के साथ इस तरह गूंथ दिए गए हैं कि ये शताब्दियों से भारत के आम जन-जीवन का अभिन्न हिस्सा बन गए हैं। सांस्कृतिक और धार्मिक संचार का हमारा यह प्राचीनतम माध्यम इतना प्रभावी और गहरा है कि तमाम विपदाओं और अनगिनत आक्रमणों के बावजूद भारत की सभ्यता, संस्कृति, परंपराएं न तो खंडित हुईं और न ही आम लोगों के आस्था और विश्वास में कोई कमी आई।

(सहायक प्राध्यापक, माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीय पत्रकारिता एवं संचार विश्वविद्यालय, भोपाल)

भारत की आध्यात्मिक विरासत है महाकुंभ

— कर्म सिंह

महाकुंभ, भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता का एक अभूतपूर्व आयोजन है, जो न केवल धार्मिक महत्व रखता है, बल्कि वैश्विक सॉफ्ट पावर का प्रतीक भी है। यह आयोजन भारतीय समाज के विभिन्न पहलुओं को प्रदर्शित करता है, जिनमें आध्यात्मिकता, सामाजिकता और सांस्कृतिक विविधता शामिल हैं। कुंभ मेला हर 12 वर्ष में चार प्रमुख नदियों-गंगा (हरिद्वार), यमुना और सरस्वती (प्रयागराज), गोदावरी (नासिक) और क्षिप्रा (उज्जैन) के तटों पर आयोजित होता है, जहाँ श्रद्धालु आकर स्नान करते हैं और अपने पापों से मुक्ति प्राप्त कर पुण्य अर्जित करते हैं।[1] महाकुंभ का आयोजन न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, बल्कि यह भारत की सांस्कृतिक धरोहर, परंपराओं और आध्यात्मिकता का जीवंत उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह विश्वभर के पर्यटकों को भारत की ओर आकर्षित करता है और भारतीय समाज की सहिष्णुता और विविधता को प्रदर्शित करता है। यह आयोजन भारत की सॉफ्ट पावर को भी बढ़ावा देता है, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति को वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करने का एक प्रभावशाली माध्यम है। महाकुंभ में भाग लेने वाले करोड़ो श्रद्धालुओं और पर्यटकों के बीच भारतीयता की एक गहरी भावना विकसित होती है। यह आयोजन एकजुटता, भाईचारे और शांति का संदेश देता है, जिससे वैश्विक स्तर पर भारत की सॉफ्ट पावर को बल मिलता है। महाकुंभ भारत की आध्यात्मिक विरासत और सॉफ्ट पावर का एक अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रतीक बन गया है, जो न केवल भारत बल्कि पूरी दुनिया में भारतीय संस्कृति के महत्व को दर्शाता है।

महाकुंभ, विश्व के सबसे बड़े धार्मिक और आध्यात्मिक आयोजनों में से एक है, जो भारत की समृद्ध आध्यात्मिक विरासत और सांस्कृतिक धरोहर का प्रतीक है। इसका आयोजन हिंदू पौराणिक कथाओं से जुड़ा हुआ है, जिसमें समुद्र मंथन से निकले अमृत की बूंदें चार पवित्र स्थलों - प्रयागराज, हरिद्वार, उज्जैन और नासिक पर गिरी थीं। महाकुंभ श्रद्धालुओं को आत्मिक शुद्धि, ध्यान और साधना का अवसर प्रदान करता है। यहाँ आने वाले लोग न केवल धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेते हैं, बल्कि सामाजिक सद्भाव और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को भी बढ़ावा देते हैं। हिंदू धर्म के प्रमुख आयोजनों में से एक यह समागम करोड़ों श्रद्धालुओं को

आकर्षित करता है, जो पवित्र नदियों में स्नान कर अपने पापों के नाश और मोक्ष की प्राप्ति का विश्वास रखते हैं। महाकुंभ का ऐतिहासिक महत्व अत्यधिक है, क्योंकि यह भारत की धार्मिक परंपराओं और संस्कृति को जीवंत रखने का माध्यम बन चुका है। इसके आयोजन से पूर्व महीनों तक समाज में एक विशेष ऊर्जा और उत्साह का संचार होता है, जो इसे न केवल एक धार्मिक आयोजन बल्कि एक भव्य सांस्कृतिक उत्सव भी बनाता है। यह केवल एक धार्मिक आयोजन तक सीमित नहीं है, बल्कि भारत की वैश्विक पहचान को भी सुदृढ़ करता है। दुनियाभर से श्रद्धालु और पर्यटक इसमें भाग लेने आते हैं, जिससे यह अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता को प्रस्तुत करने का एक प्रभावी साधन बनता है।[4] यह आयोजन भारत की सहिष्णुता, विविधता और आध्यात्मिक शक्ति को दर्शाता है, जिससे भारत की सॉफ्ट पावर को वैश्विक स्तर पर सुदृढता मिलती है।

महाकुंभ समाज के विभिन्न वर्गों को एक मंच पर लाने का कार्य करता है। इसमें न केवल भारतीय श्रद्धालु, बल्कि विदेशी पर्यटक और शोधार्थी भी भाग लेते हैं, जो इस अद्वितीय अनुभव का अध्ययन करते हैं। यह आयोजन भारतीय संस्कृति और धर्म की गहरी जड़ों को स्पष्ट करता है, जिससे यह संपूर्ण विश्व में एक स्थायी छाप छोड़ता है। इसके अलावा, महाकुंभ का आयोजन शास्त्रों, पौराणिक कथाओं और धार्मिक ग्रंथों से गहरे जुड़े होने के कारण भारत की धार्मिक प्राचीनता और ऐतिहासिक धरोहर को भी उजागर करता है। महाकुंभ केवल एक धार्मिक पर्व नहीं, बल्कि भारत की सांस्कृतिक, आध्यात्मिक और सामाजिक शक्ति का प्रतीक है। इसकी भव्यता और व्यापकता इसे वैश्विक स्तर पर भारत की सॉफ्ट पावर को प्रदर्शित करने का एक महत्वपूर्ण अवसर बनाती है। यह आयोजन भारत की आध्यात्मिक विरासत और सांस्कृतिक गौरव को पुनः स्थापित करता है, जहां करोड़ों श्रद्धालु अपने पवित्र विश्वासों को साझा करते हैं।[5] इसके माध्यम से न केवल धर्म, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक संवाद भी सुनिश्चित होता है, जो वैश्विक स्तर पर भारत की सशक्त पहचान को कायम करता है।

> ***महाकुंभ विश्वभर के पर्यटकों को भारत की ओर आकर्षित करता है और भारतीय समाज की सहिष्णुता और विविधता को प्रदर्शित करता है। यह आयोजन भारत की सॉफ्ट पावर को भी बढ़ावा देता है, क्योंकि यह भारतीय संस्कृति को वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करने का एक प्रभावशाली माध्यम है।***

महाकुंभ और भारत की सॉफ्ट पावर

वर्ष 2025 का महाकुंभ वैश्विक पटल पर भारत की सॉफ्ट पावर के प्रभुत्व को भी सुदृढ़ करता है। किसी एक स्थल पर धार्मिक आस्था को मानते हुए करोड़ों व्यक्तियों द्वारा निस्वार्थ भाव से पवित्र नदी में स्नान करना भारत की एकता, सभ्यता, संस्कृति तथा समृद्धता का सजग उदाहरण है। महाकुंभ केवल एक धार्मिक आयोजन नहीं है, बल्कि यह भारत के आध्यात्मिक पर्यटन का एक प्रमुख केंद्र भी है, जो दुनिया भर के लोगों को आकर्षित करता है। इसका वैश्विक महत्व और आकर्षण वर्षों से बढ़ता जा रहा है, क्योंकि यह न केवल भारत की आध्यात्मिक परंपराओं को प्रदर्शित करता है, बल्कि यह पर्यटकों को भारतीय संस्कृति और धार्मिक मान्यताओं से जोड़ने का एक माध्यम भी बन गया है। महाकुंभ के समय, लाखों श्रद्धालु और पर्यटक भारत आते हैं, जो यहां के पवित्र स्थलों, नदियों और आध्यात्मिक वातावरण में गहरे तल्लीन होते हैं। यह आयोजन न केवल भारत की धार्मिक विविधता को प्रदर्शित करता है, बल्कि इसे एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक गंतव्य के रूप में वैश्विक पहचान दिलाता है। इसके माध्यम से भारत अपने धार्मिक और सांस्कृतिक धरोहर को दुनिया भर में प्रेषित करता है, जो भारतीय सॉफ़्ट पावर के रूप में कार्य करता है। महाकुंभ के साथ योग, वेदांत और भारतीय संस्कृति का प्रचार भी महत्वपूर्ण रूप से जुड़ा हुआ है। महाकुंभ में शामिल होने वाले लोग भारतीय योग, ध्यान, वेदांत और आध्यात्मिक अभ्यासों का अनुभव करते

हैं, जो पूरे विश्व में प्रचलित हो चुके हैं। विशेष रूप से वेदांत दर्शन और योग के अभ्यास का महत्व इस आयोजन में और भी बढ़ जाता है, जहां अनेक योग शिक्षक और साधु-संतो के ध्यान और साधना के माध्यम से भक्तो को जीवन के शाश्वत सत्य की ओर मार्गदर्शन करते हैं।[14] इसके साथ-साथ महाकुंभ के विभिन्न धार्मिक आयोजनों और उपास्य स्थलों से भारतीय संस्कृति का भी प्रसार होता है, जो भारतीय कला, संगीत, नृत्य, और साहित्य के माध्यम से दुनिया भर के लोगों को आकर्षित करता है। यह आयोजन भारत की सभ्यता और संस्कृति को एक वैश्विक मंच पर प्रस्तुत करने का कार्य करता है।

अंतरराष्ट्रीय पर्यटकों और शोधकर्ताओं के लिए महाकुंभ का महत्व अत्यधिक है, क्योंकि यह एक ऐसा अवसर है, जहां वे भारत की प्राचीन संस्कृति, धार्मिक विश्वास और आध्यात्मिकता को समझ सकते हैं। महाकुंभ के दौरान आयोजित होने वाली धार्मिक और सांस्कृतिक गतिविधियाँ, व्याख्यान, और साधनाएँ न केवल श्रद्धालुओं को मोक्ष की प्राप्ति का अनुभव देती हैं, बल्कि शोधकर्ताओं और अकादमिक समुदाय के लिए यह एक महत्वपूर्ण अध्ययन क्षेत्र भी है। यहां धार्मिक, सांस्कृतिक, और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नए शोध किए जाते हैं, जो महाकुंभ को केवल एक धार्मिक समागम नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक और ऐतिहासिक धरोहर के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। यह आयोजन भारत को एक मजबूत और प्रभावी सॉफ्ट पावर के रूप में स्थापित करता है, जो वैश्विक समुदाय को आध्यात्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से जोड़ने का काम करता है।[15]

महाकुंभ का वैश्विक प्रभाव

महाकुंभ का सॉफ्ट पावर और कूटनीति के प्रभाव का परिपेक्ष्य काफी विशिष्ट है। महाकुंभ का उद्देश्य भारतीय संस्कृति, धार्मिकता और जीवन दर्शन का प्रभावी तरीके से परोपित करना है। महाकुंभ का आयोजन भारत की संस्कृति के प्रचार के साथ साथ अन्य देशों के सानिध्य को भी मजबूत बनाता है। इसके अलावा, महाकुंभ के आयोजन के साथ भारत अपने सॉफ्ट पावर नीति के अंतर्गत देश-विदेशो में अपने धर्म और संस्कृति, योग, वेदांत, और अन्य भारतीय परंपराओं का प्रचार करता है जिससे भारत की पहचान और प्रभाव का दायरा राष्ट्रस्तर पर अधिक व्यापक हो रहा है। महाकुंभ सिर्फ आस्था का प्रतीक नहीं है, अपितु भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक तथा कूटनीतिक रिश्तो को मजबूत करने का मार्ग भी प्रशस्त करता है। महाकुंभ के माध्यम से भारत अपनी शांतिपूर्ण और एकता की छवि को प्रसारित करता है, जो वैश्विक पटल पर भारत की आस्था, प्रगति तथा सांस्कृतिक धरोहर को चरितार्थ करते है। महाकुंभ का अंतरराष्ट्रीय मीडिया में कवरेज भी इसके वैश्विक प्रभाव को स्पष्ट करता है। इस आयोजन का मीडिया में व्यापक रूप से प्रसारण किया जाता है, जो दुनिया भर के लोगों को आकर्षित करता है। टीवी चैनलों, समाचार पत्रों और डिजिटल प्लेटफार्मों पर महाकुंभ से संबंधित विशेष रिपोर्ट, दस्तावेजी फिल्में और फीचर प्रकाशित किए जाते हैं, जो इस आयोजन के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और धार्मिक महत्व को उजागर करते हैं। महाकुंभ के दौरान होने वाली सांस्कृतिक और धार्मिक गतिविधियाँ, जैसे कि साधु संतों की महामंच पर उपासना, भारतीय कलाओं और संगीत का प्रदर्शन, और धार्मिक प्रवचन, अंतरराष्ट्रीय दर्शकों तक पहुँचते हैं।[16] इस कवरेज के माध्यम से महाकुंभ न केवल भारत में, बल्कि विश्वभर में एक आकर्षक और अद्वितीय धार्मिक उत्सव के रूप में प्रतिष्ठित होता है, जो भारतीय संस्कृति के प्रति वैश्विक रुचि और सम्मान को बढ़ाता है।

> ***महाकुंभ की छवि एक ऐसी आध्यात्मिकता के रूप में उभर रही है, जो शांति, आंतरिक संतुलन और विश्वव्यापी भाईचारे का संदेश देती है, और भारत को एक सांस्कृतिक महाशक्ति के रूप में परिलक्षित है।***

विदेशों में भारतीय आध्यात्मिकता और महाकुंभ की छवि लगातार सकारात्मक रूप से विकसित हो रही है। महाकुंभ का आयोजन न केवल भारतीयों के लिए, बल्कि दुनियाभर के लोगों के

लिए एक आध्यात्मिक अनुभव बन चुका है। विभिन्न देशों में भारतीय संस्कृति और आध्यात्मिकता के प्रति लोगों की रुचि खासकर योग और ध्यान के अभ्यास के माध्यम से बढ़ी है। महाकुंभ की धार्मिक और सांस्कृतिक छवि, भारतीयता की गहरी जड़ों को दर्शाती है, जो अब वैश्विक पहचान प्राप्त कर चुकी है। भारत में आयोजित यह विशाल धार्मिक आयोजन दुनियाभर में सकारात्मक ऊर्जा का संचार प्रेषित करता है, जिससे विदेशों में भारतीय धार्मिक परंपराओं और जीवन शैली के प्रति सम्मान और रुचि बढ़ती है। महाकुंभ की छवि एक ऐसी आध्यात्मिकता के रूप में उभर रही है, जो शांति, आंतरिक संतुलन और विश्वव्यापी भाईचारे का संदेश देती है, और भारत को एक सांस्कृतिक महाशक्ति के रूप में परिलक्षित है।[17]

वर्ष 2025 महाकुंभ का समसामयिक परिप्रेक्ष्य

वर्ष 2025 का महाकुंभ, न केवल एक धार्मिक आयोजन था, बल्कि यह सनातन संस्कृति, आस्था और मानव इतिहास के सबसे बड़े समागमों में से एक के रूप में समसामयिक परिप्रेक्ष्य में उभरकर सामने आया। यह महाकुंभ 144 वर्षों के अंतराल के बाद आयोजित हुआ, जिसमें त्रिवेणी संगम - गंगा, यमुना और सरस्वती के पवित्र जल में स्नान करने के लिए विश्व भर से श्रद्धालु पहुंचे। आधिकारिक आंकड़ों के अनुसार, इस 45 दिनों के आयोजन में 66 करोड़ से अधिक लोगों ने स्नान किया, जो इसे

> ***महाकुंभ से जुड़ी आवश्यक सेवाएं, जैसे कि सुरक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएं, और अवसंरचनात्मक परियोजनाएं भी रोजगार के अवसर उत्पन्न करती हैं, जिससे रोजगार दर में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, महाकुंभ के आयोजन से विभिन्न क्षेत्रों में निवेश आकर्षित होता है, जिससे देश की समग्र अर्थव्यवस्था को भी लाभ होता है।***

विश्व का सबसे बड़ा मानव समागम बनाता है। इसकी तुलना में, यह संख्या अमेरिका (33 करोड़), पाकिस्तान (24 करोड़), और रूस (14.5 करोड़) जैसे देशों की जनसंख्या से कहीं अधिक है। इस आयोजन में 73 देशों के राजनयिकों और भूटान नरेश नामग्याल वांगचुक सहित नेपाल से 50 लाख से अधिक श्रद्धालुओं ने भाग लिया, जो वैश्विक स्तर पर सनातन धर्म की स्वीकार्यता को दर्शाता है। प्रशासन ने इसे सुचारु रूप से संचालित करने के लिए 4000 हेक्टेयर क्षेत्र को 25 सेक्टरों में विभाजित किया, 41 घाटों का निर्माण किया, और 7-स्तरीय सुरक्षा व्यवस्था के साथ 15 हजार पुलिसकर्मी, 300 गोताखोर, और 113 ड्रोन तैनात किए। हालांकि, मौनी अमावस्या से पहले भगदड़ जैसी घटना में 30 लोगों की मृत्यु और 90 से अधिक के घायल होने की दुखद घटना भी हुई, जिसके बाद प्रशासन ने सुरक्षा और भीड़ प्रबंधन को और सख्त किया। यह महाकुंभ आधुनिकता और परंपरा का संगम था, जहां डिजिटल नेविगेशन, वाटर एम्बुलेंस, और एनएसजी कमांडो की तैनाती ने इसे एक सुरक्षित और भव्य स्वरूप प्रदान किया। अनुमान के अनुसार, इस आयोजन ने उत्तर प्रदेश के राजस्व में 25, 000 करोड़ रुपये का योगदान दिया, जो इसके आर्थिक महत्व को भी रेखांकित करता है। कुल मिलाकर, महाकुंभ 2025 ने न केवल धार्मिक आस्था को बल्कि भारत की सांस्कृतिक एकता, संगठन क्षमता और वैश्विक प्रभाव को प्रदर्शित किया।

आर्थिक और सामाजिक प्रभाव

महाकुंभ का आयोजन न केवल धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण है, बल्कि इसके स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर गहरे आर्थिक प्रभाव भी होते हैं। महाकुंभ में करोड़ो श्रद्धालुओं और पर्यटकों के आगमन से पर्यटन उद्योग को भारी बढ़ावा मिलता है। होटल, परिवहन, खाद्य आपूर्ति, हस्तशिल्प, और स्थानीय बाजारों में व्यापार बढ़ता है, जिससे स्थानीय व्यवसायों को आर्थिक लाभ मिलता है। साथ ही, महाकुंभ से जुड़े आयोजनों में विभिन्न तरह के उत्पादों और सेवाओं की मांग में भी वृद्धि होती है। इससे राष्ट्रीय स्तर पर भी आर्थिक गतिविधियों में वृद्धि होती है, क्योंकि

यह आयोजन राज्य और केंद्र सरकार के लिए भी एक बड़ी आय का स्रोत बनता है। महाकुंभ से जुड़ी आवश्यक सेवाएं, जैसे कि सुरक्षा, स्वास्थ्य सुविधाएं, और अवसंरचनात्मक परियोजनाएं भी रोजगार के अवसर उत्पन्न करती हैं, जिससे रोजगार दर में वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त, महाकुंभ के आयोजन से विभिन्न क्षेत्रों में निवेश आकर्षित होता है, जिससे देश की समग्र अर्थव्यवस्था को भी लाभ होता है। महाकुंभ के आयोजन से पर्यावरणीय चुनौतियाँ भी उत्पन्न होती हैं, खासकर जब यह विशाल संख्या में श्रद्धालुओं को आकर्षित करता है। पर्यावरण पर दबाव, जैसे जल स्रोतों का अत्यधिक उपयोग, जल प्रदूषण, कचरा प्रबंधन, और जलवायु परिवर्तन की समस्याएं, एक गंभीर मुद्दा बन जाते हैं। जब करोड़ो लोग पवित्र नदी में स्नान करते हैं, जो जल गुणवत्ता को प्रभावित कर सकते हैं। इसके अलावा, भारी संख्या में यातायात के कारण वायु प्रदूषण और सड़क जाम जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। इसलिए, महाकुंभ के आयोजकों के लिए पर्यावरणीय संतुलन बनाए रखना और सतत विकास के सिद्धांतों का पालन करना अत्यंत आवश्यक होता है। महाकुंभ के आयोजन में पर्यावरणीय सुधार के उपायों को लागू करने के लिए कई गैर-सरकारी संगठन, पर्यावरण विशेषज्ञ, और सरकारी एजेंसियां सक्रिय रूप से कार्य करती हैं। इसके अलावा, स्थानीय और राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरणीय शिक्षा और जागरूकता अभियानों का आयोजन भी किया जाता है, ताकि लोगों को जलवायु परिवर्तन और पर्यावरण की रक्षा के प्रति संवेदनशील बनाया जा सके।

महाकुंभ के सफल आयोजन में सरकार और प्रशासन की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण होती है। महाकुंभ के दौरान बड़ी संख्या में श्रद्धालु और पर्यटक एक साथ एकत्र होते हैं, जिससे सुरक्षा, यातायात व्यवस्था, स्वास्थ्य देखभाल, और अन्य आवश्यक सेवाओं की व्यवस्था चुनौतीपूर्ण हो जाती है। प्रशासन को इन सभी पहलुओं का ध्यान रखते हुए विस्तृत योजना बनानी होती है, ताकि लोगों की सुरक्षा और सुविधा सुनिश्चित की जा सके। स्थानीय और राज्य सरकारों को इन्फ्रास्ट्रक्चर का निर्माण, जैसे सड़कों का विस्तार, पानी और शौचालय की सुविधाएं, और अस्पतालों की व्यवस्था, करना पड़ता है। साथ ही, महाकुंभ के आयोजन में संचार व्यवस्था और आपातकालीन सेवाओं की भी अहम भूमिका होती है। प्रशासन की ओर से प्रभावी निगरानी और व्यवस्थापन सुनिश्चित करता है कि इस धार्मिक आयोजन के दौरान कोई भी अप्रिय घटना न हो और लोगों को उचित सेवाएं मिलें। इसके अतिरिक्त, महाकुंभ के आयोजन से जुड़े कई सामाजिक कार्यक्रमों और स्वच्छता अभियानों में प्रशासन सक्रिय रूप से शामिल होता है, जो आयोजन के समग्र अनुभव को बेहतर बनाते हैं। महाकुंभ का आयोजन स्थानीय अर्थव्यवस्था पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यह न केवल पर्यटन को बढ़ावा देता है, बल्कि रोजगार के अवसर भी सृजित करता है। इससे संबंधित बुनियादी ढाँचे का विकास होता है, जो दीर्घकालिक आर्थिक लाभ प्रदान करता है। महाकुंभ के दौरान करोड़ो लोगों की उपस्थिति स्थानीय व्यापारियों और सेवा प्रदाताओं के लिए एक बड़ा अवसर बनाती है। इस प्रकार, महाकुंभ केवल एक धार्मिक आयोजन नहीं है; यह भारत की आध्यात्मिक विरासत और वैश्विक सॉफ्ट पावर का प्रतीक है, जो सामाजिक समरसता, सांस्कृतिक आदान-प्रदान और आर्थिक विकास को बढ़ावा देता है।[23]

निष्कर्ष और भविष्य की संभावनाएँ

भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाने में महाकुंभ की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण है। यह आयोजन भारत को न केवल धार्मिक दृष्टिकोण से, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टिकोण से भी वैश्विक मंच पर स्थापित करता है। महाकुंभ के माध्यम से भारत अपनी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहर को पुनः जीवित करता है और इसे वैश्विक समुदाय के साथ साझा करता है। महाकुंभ के आयोजन से भारतीय संस्कृति और धार्मिकता का प्रसार होता है, जो भारत की सॉफ्ट पावर को और मजबूत करता है। इसके अलावा, महाकुंभ के माध्यम से भारत को आध्यात्मिक शिक्षा, योग, वेदांत, और ध्यान जैसे क्षेत्रों में वैश्विक नेतृत्व की संभावना मिलती है। महाकुंभ

के आयोजनों में भारतीय संस्कृति, कला, और संगीत का प्रचार भी होता है, जिससे पूरी दुनिया में भारतीय संस्कृति की छवि और पहचान बढ़ती है। भविष्य में महाकुंभ को और भी बड़े स्तर पर वैश्विक पहचान दिलाने के लिए भारत को इस आयोजन को और अधिक संगठित, जिम्मेदार और आकर्षक बनाने की दिशा में कदम उठाने होंगे। महाकुंभ न केवल भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक शक्ति को प्रदर्शित करता है, बल्कि यह भारतीय समाज और संस्कृति के उत्थान में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। भविष्य में, यदि इस आयोजन को और अधिक वैश्विक स्तर पर विस्तारित किया जाए और इसके माध्यम से भारत की आध्यात्मिक शक्ति को प्रचारित किया जाए, तो यह न केवल भारत, बल्कि पूरी दुनिया के लिए एक सकारात्मक बदलाव का माध्यम बन सकता है। महाकुंभ की अद्वितीयता और महत्व को समझते हुए, भारत को इसे एक प्रभावी वैश्विक आयोजन के रूप में स्थापित करने के लिए न केवल आयोजन स्तर पर सुधार करने होंगे, बल्कि इसे एक स्थायी और प्रभावशाली सांस्कृतिक पहल के रूप में पेश किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. Eck, Diana L. *India: A Sacred Geography.* Random House, 2012.
2. Lochtefeld, James G. *God's Gateway: Identity and Meaning in a Hindu Pilgrimage Place.* Oxford University Press, 2010.
3. Singh, Rana P. B. *Sacred Geography of India: Based on Pilgrimage and Cosmology.* Aryan Books International, 2003.
4. Darian, Steven. *The Ganges in Myth and History.* Motilal Banarsidass, 2001.
5. Eck, Diana L. *India: A Sacred Geography.* Harmony, 2012.
6. Dwivedi, Hazari Prasad. *Kala Aur Sanskriti.* Rajkamal Prakashan, 2005.
7. Sharma, R. S. *India's Ancient Past.* Oxford University Press, 2007.
8. Dubey, D. P. *Prayag: History, Mythology and Culture of Allahabad.* Aryan Books International, 2011.
9. Pandey, Raj Balkaran. *Hindu Dharma Evam Sanskriti.* Motilal Banarsidass, 2013.
10. "Maha Kumbh: A confluence of faith and culture." *The Hindu*, 18 Jan. 2025, www.thehindu.com.
11. Singh, Rajesh. *Cultural Diplomacy and India's Soft Power.* Routledge India, 2020.
12. Government of Uttar Pradesh. *Official Website of Uttar Pradesh Tourism.* Uttar Pradesh Tourism, https://www.uptourism.gov.in. Accessed 9 Mar. 2025.
13. Government of Uttar Pradesh. *Prayagraj: The Land of Triveni Sangam.* Uttar Pradesh Government, 2024, https://prayagraj.nic.in.
14. Uttar Pradesh Legislative Assembly. *Cultural and Religious Heritage of Prayagraj.* Uttar Pradesh Vidhan Sabha, 2023.
15. Tripathi, Radhavallabh. *Bharatiya Sanskriti Aur Vishwa Manch.* Motilal Banarsidass, 2018.
16. Verma, S. P. *Indian Festivals and Soft Power Projection.* Orient BlackSwan, 2019.
17. "Prayagraj Mahakumbh 2025 - महाकुंभ2025 के25 बड़े फैक्ट्स«. *Aaj Tak*, 12 Jan. 2025, www.aajtak.in.
18. "महाकुंभ2025 में कुल कितने लोगों ने किया स्नान? CM योगी ने बताया आंकड़ा«. *India TV*, 26 Feb. 2025, www.indiatv.in.
19. "Mahakumbh 2025: महाकुंभ ने रचा नया कीर्तिमान, अब तक 60 करोड़ से." *India News*, 22 Feb. 2025, www.indianews.in.
20. "Mahakumbh 2025 Day 42 Highlights: महाकुंभ में बना नया रिकॉर्ड." *Zee News*, 23 Feb. 2025, www.zeenews.india.com.
21. Chaturvedi, Vinayak. *Peasant Pasts: History and Memory in Western India.* Permanent Black, 2007.
22. Srivastava, Rajesh. *Economic Impact of Kumbh Mela on Local Businesses in Prayagraj.* Indian Journal of Economic Studies, vol. 45, no. 2, 2023, pp. 112-129.
23. Sharma, Anjali. *Socio-Cultural Transformations in Prayagraj: A Study of Festivals and Pilgrimage.* Journal of Social Research and Development, vol. 39, no. 1, 2024, pp. 87-103.

साहित्य व संस्कृति में हिंदी

— डॉ. संध्या सिलावट

विभिन्न विद्वानों ने साहित्य की परिभाषा अपने मतानुसार दी है। **आचार्य जगन्नाथ** के मतानुसार "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।" (रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य है) **महावीर प्रसाद जी** का कहना है कि "ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम साहित्य है" और उनका यह भी कहना है कि "अंतःकरण की वृतियों का चित्र काव्य है।" **आचार्य नंददुलारे वाजपेयी** का मत है कि "साहित्य से हमारा आशय उन विशिष्ट और प्रतिनिधि रचनाओं से है, जो किसी युग के भावात्मक जीवन का प्रतिमान होती हैं, जो समाज और सामाजिक जीवन को भली या बुरी दशा में ले जाने की प्रबल सामर्थ्य रखती हैं।» **हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने लिखा है कि "साहित्य मनुष्य के अंतर का उच्छलित आनंद है, जो उसके अंतर में अटाए नहीं अट सका था। साहित्य का मूल यही आनंद का अतिरेक है। उच्छलित आनंद के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है।" उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है किसी समाज को देखना है तो उसके साहित्य को पढ़ना चाहिए।

संस्कृत शब्द 'सिन्धु' से 'हिन्दी' शब्द का सम्बन्ध माना जाता है। सिन्ध नदी 'सिन्धु' कहलाती थी। उसके आसपास का क्षेत्र 'सिन्धु' कहा जाता था। ईरानी में लोग इसे 'हिन्दू' बोलते थे, बाद में यह हिंद हो गया। कालांतर में हिंद शब्द संपूर्ण भारत के लिए प्रयोग होने लगा। 'ईक' (ईरानी का) प्रत्यय लगने से 'हिन्दीक' हुआ, जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। 'इन्दिका' (यूनानी शब्द) और 'इण्डिया' (अंग्रेजी शब्द) आदि इस 'हिन्दीक' के ही विकसित रूप हैं। यह विशेषण है, किन्तु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया है। शरफुद्दीन यज्दी के 'जफरनामा' (1424 ई.) में हिन्दी भाषा हेतु इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग मिलता है।

प्रारंभ में 'हिन्दी' शब्द हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए प्रयोग किया जाता था। शब्दों में अरबी-फारसी तथा संस्कृत की अधिकता की बात न की जाए तो हिन्दी-उर्दू में कोई विशेष अंतर नहीं है। दोनों एक ही भाषा की दो शैलियां हैं। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरों को हिन्दी शेर कहा है। गालिब ने भी कई स्थानों पर हिन्दी-उर्दू को समानार्थी रूप में प्रयोग किया था। कहा जाता है कि उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में अंग्रेजों की विशेष भाषा-नीति के कारण ही इन दोनों को पृथक-पृथक भाषाएं माना जाने लगा। हिन्दी को हिन्दुओं से तथा उर्दू को मुसलमानों से जोड़ा गया, यदि अंग्रेज चाल न चलते तो आज ये दोनों भाषाएं एक होतीं।

'हिन्दी' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिन्दी प्रदेश में बोली जाने वाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, इसीलिए उसके अन्तर्गत ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खड़ीबोली आदि प्रायः सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है।

'हिन्दी' शब्द का संकुचिततम अर्थ है- खड़ीबोली साहित्यिक हिन्दी, जो आज हिन्दी-प्रदेशों की सरकारी भाषा है, पूरे भारत की राजभाषा है, समाचारपत्रों और फिल्मों में जिसका प्रयोग होता है, जो हिन्दी-प्रदेश में शिक्षा का माध्यम है और जिसे 'परिनिष्ठित हिन्दी', 'मानक हिन्दी' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।

सत्रह बोलियों का द्योतक होने से हिन्दी का उद्भव शौरसेनी, अर्धमागधी तथा मागधी अपभ्रंश से माना जाता है।

साहित्य के विद्वान् हिन्दी भाषा का आरंभ सातवीं सदी के मध्य से मानते हैं। जबकि भाषा के विद्वानों के अनुसार हिन्दी का आभास भले ही इस समय या इससे भी कुछ पूर्व मिलता हो, भाषा के रूप में हिन्दी के वास्तविक अस्तित्व में आने का समय 1000 ई. ही माना जाना चाहिए। सातवीं सदी के मध्य से 1000 ई. तक की रचनाएं मुख्यतः अपभ्रंश में विरचित है, यदि कहीं हिन्दी के प्रयोग मिलते हैं तो उन्हें हिन्दी भाषा के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करना ही उचित होगा। हिन्दी भाषा का वास्तविक आरंभ 1000 ई. से माना जाता है। इस तरह हिन्दी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग पौने दस सौ वर्षों (1000-1975) ई. में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बांटा जा सकता है-आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल।

आदिकाल (1000-1500) ई.-अपभ्रंश से हिन्दी का उद्भव हुआ, इसलिए हिन्दी भाषा इस काल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक समीप थी, हिन्दी में मुख्यत: अपभ्रंश में प्रयुक्त ध्वनियों (स्वरों-व्यंजनों) का प्रयोग होता था। अपभ्रंश में केवल आठ मूल स्वर थे-अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। आदिकालीन हिन्दी में दो नये संयुक्त स्वर ऐ, औ विकसित हो गये जिनका उच्चारण क्रमशः अऍ, अओ था।

1000 या 1100 ई. के समीप आदिकालीन हिन्दी का व्याकरण अपभ्रंश के बहुत समान था। अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप धीरे-धीरे कम होते गये और हिन्दी के अपने रूप विकसित होते गये। 1500 ई. तक अपभ्रंश के रूपों के प्रयोग हट गए हिन्दी अपने पैरों पर खड़ी हो गई।

> ***आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "साहित्य मनुष्य के अंतर का उच्छलित आनंद है, जो उसके अंतर में अटाए नहीं अट सका था। साहित्य का मूल यही आनंद का अतिरेक है। उच्छलित आनंद के अतिरेक से उद्भूत सृष्टि ही सच्चा साहित्य है।***

अपभ्रंश के संयोगात्मक रूप कम होते गये और हिन्दी में सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक-चिह्नों) के वियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला। अपभ्रंश का नपुंसकलिंग हिन्दी में नहीं था। हिन्दी-वाक्य-रचना में शब्द-क्रम धीरे-धीरे निश्चित होने लगा था। प्रारम्भ में आदिकालीन हिन्दी में अपभ्रंश का ही शब्द-भण्डार था, पीछे तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी। मुसलमानों के आने से पश्तो, फारसी तथा तुर्की भाषाओं के कुछ शब्द हिन्दी में आए।

इस समय के साहित्य में प्रमुखत: डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस युग के प्रमुख हिन्दी-साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चन्दबरदायी, अमीर खुसरो, कबीर आदि हैं। प्रसिद्ध रचनाएँ श्रावकाचार, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो, ढोला-मारू रा दूहा, वसंत-विलास, खुसरों की पहेलियाँ, राउलवेल, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, वर्ण रत्नाकर और बीसलदेव रासो आदि हैं।

मध्यकाल (1500-1800) ई.-इस काल में दरबार में फारसी का प्रयोग होने से फारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था होने से फारसी का प्रचार हुआ, उच्च वर्ग की हिन्दी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़ ये पांच नए व्यंजन आ गये। इस काल में हिन्दी भाषा व्याकरण के क्षेत्र में पूरी तरह सक्षम हो गई। अपभ्रंश के रूप हिन्दी से हट चुके थे, जो बचे उन्हें हिन्दी ने अपना लिया था। आदिकालीन भाषा की तुलना में हिन्दी और भी वियोगात्मक हो गई। परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और बढ़ गया। उच्च वर्ग में फारसी का प्रचलन बढ़ने से हिन्दी-वाक्य-रचना पर फारसी का प्रभाव दिखने लगा था।

इस काल में फारसी के लगभग 3500 शब्द, अरबी के लगभग 2500, पश्तो के लगभग 50 तथा तुर्की के लगभग 125 शब्द हिन्दी में आ गए। भक्ति-आन्दोलन के शीर्ष पर पहुंचने से तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया। यूरोप से सम्पर्क हो जाने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी शब्द भी हिन्दी में आ गए।

भक्ति-आन्दोलन के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा ब्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचना हुई। मध्य काल का

भक्ति-काल हिंदी का स्वर्ण काल कहा जाता है। दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ीबोली में भी साहित्य-रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूरदास, मीराबाई, तुलसीदास, केशवदास, बिहारी, भूषण, देव, रसखान, घनानंद और पद्माकर हैं। इस युग के प्रमुख ग्रंथ-सूरसागर, पद्मावत, रामचरितमानस, रामचंद्रिका व बिहारी सतसई आदि हैं।

आधुनिक काल (1800 ई. से अब तक)-आधुनिक काल में हिन्दी प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़, ख़, ग़, ज़, फ़ जो मध्यकाल में केवल उच्च वर्गों के फारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में 1947 ई. तक सुशिक्षित लोगों द्वारा बोले जाने लगे। अंग्रेजी में प्रयुक्त होने के कारण ज़, फ़ तो कुछ सीमा तक अब भी प्रचलन में हैं, कुछ अपवादों को छोड़ दें तो नई पीढ़ी, इनके स्थान पर क, ख, ग बोलने लगी है। अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार के कारण ऑ ध्वनि भी हिन्दी में प्रयुक्त हो रही है।

आदिकाल में स्वर ऐ, औ हिन्दी में आए थे। ये संयुक्त स्वर थे जिनका उच्चारण अएँ, अओं था। 1940 ई. के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ बदली है। ये स्वर सामान्यतः पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र में मूल स्वर-रूप में उच्चरित होते हैं। पूर्वी हिन्दी-क्षेत्र में अब भी ये अएँ, अओं संयुक्त स्वर के रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं। पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही क्षेत्रों में नैया, वैयाकरण, कौआ जैसे शब्दों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमशः संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है। अब हिन्दी में उच्चारण में कोई भी शब्द अकारान्त नहीं है। हिन्दी पूर्णत: एक वियोगात्मक भाषा हो गयी है।

आदिकाल से ही हिन्दी की विभिन्न बोलियों का व्याकरणिक अस्तित्व शुरू हो चुका था। फिर भी निकटवर्ती स्थानों पर बहुत से व्याकरणिक रूप एक जैसे थे। आधुनिक काल तक कई बोलियों ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि का व्याकरणिक अस्तित्व इतना स्वतन्त्र हो गया है कि उन्हें सहजता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।

हिन्दी व्याकरण का मानक रूप व्याकरणिक विश्लेषण, शिक्षा, प्रेस तथा रेडियो आदि के प्रभाव से सुनिश्चित हो चुका है। इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का योगदान भुलाया नहीं जा सकता है।

मध्यकाल में हिन्दी-वाक्य-रचना फारसी से प्रभावित थी। आधुनिक काल में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार है। इस कारण हिन्दी भाषा की वाक्य-रचना, मुहावरों तथा लोकोक्तियों आदि पर अंग्रेजी का बहुत अधिक प्रभाव है। इधर कुछ वर्षों से 'कीजिए' के लिए 'करिए', 'मुझे' के लिए 'मेरे को', 'तुझ में' के लिए 'तेरे में', 'नहीं जाता है' के स्थान पर 'नहीं जाता', जैसे नए रूपों तथा नई वाक्य-रचना का प्रचार कुछ स्थानों में बढ़ता जा रहा है। अर्थात् हिन्दी भाषा की रूप-रचना तथा वाक्य-रचना में परिवर्तन हो रहा है।

1800 ई. से अब तक के आधुनिक काल को शब्द-भण्डार की दृष्टि से छः-सात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। 1800 से 1850 ई. तक का हिन्दी शब्द-भण्डार मध्यकाल के अन्तिम चरण के समान ही था। उस समय का केवल यह अन्तर था कि अंग्रेजी के अधिकाधिक शब्द हिन्दी भाषा में आ रहे थे। 1850 से 1900 ई. तक अंग्रेजी शब्दों के साथ आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग भी बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिन्दी से हट गए। 1900 ई. के बाद द्विवेदी काल तथा छायावाद-काल में अनेक कारणों से तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ गया। इस दृष्टि से प्रसाद, पन्त और महादेवी वर्मा का पूरा साहित्य दर्शनीय है। प्रगतिवादी आन्दोलन चला तद्भव शब्दों का प्रयोग बढ़ गया। सन् 1947 ई. तक यही चला। इसके बाद के शब्द-भण्डार में कई बातें ध्यान देने योग्य हैं-अनेक पुराने शब्द नये अर्थों में प्रचलित हो गए हैं। उदाहरण के लिए 'सदन' राज्यसभा-लोकसभा दोनों के लिए प्रयोग हो रहा है। नई आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षणिका, फिल्माना, घुसपैठिया जैसे बहुत-से नये शब्द हिन्दी में आ गये हैं।

साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट आ गई है, अरबी-फारसी तथा अंग्रेजी के लोक-प्रचलित शब्दों का बहुत प्रयोग हो रहा है, किन्तु आलोचना की भाषा में अब भी तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुतायत में है।

हिन्दी विज्ञान, वाणिज्य, विधि आदि की भी भाषा है। अतएव पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता अनुभव हुई।

इस हेतु अनेक नए शब्द बनाये गए तथा अनेक शब्द अंग्रेजी, संस्कृत आदि से लिये गए हैं। पारिभाषिक शब्दों में निरंतर वृद्धि होती जा रही है। अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए व नए शब्दों से समृद्ध होते हुए हिन्दी शब्द-भण्डार दिनोंदिन अधिक व्यापक होती जा रही है, फलतः हिन्दी अपनी अभिव्यंजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

भाषा का प्रचार क्षेत्र जैसे-जैसे बढ़ता जाता है वैसे-वैसै उसके एक से अधिक रूप विकसित होने लगते हैं। अंग्रेजी का उदाहरण देखिए- इंग्लैंड, अमरीका, ऑस्ट्रेलिया की अंग्रेजी ध्वनि-व्यवस्था, रूप-रचना, वाक्य-गठन तथा शब्द-भण्डार किसी भी दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं है। हिन्दी के साथ भी वही अवस्था आ रही है।

संविधान के 351वें अनुच्छेद के अनुसार सम्पर्क भाषा के रूप में जिस हिन्दी का विकास होना है, वह शब्द-भण्डार के क्षेत्र में भारत की सभी भाषाओं से कुछ-न-कुछ ग्रहण करेगी। राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वरूप एक प्रकार से सार्वदेशिक होगा। इस दिशा में स्वदेश-विदेश के हिन्दी-विद्वानों ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के साथ ही विश्व की एक प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का संकल्प व्यक्त किया है।

'संस्कृति' शब्द का शाब्दिक अर्थ होता है, संशोधन करना, परिष्कार करना तथा उत्तम बनाना आदि। इसके लिए अंग्रेजी में 'कल्चर' (Culture) शब्द प्रयोग किया जाता है, जिसका अर्थ है 'उत्पन्न करना' अथवा 'सुधारना। संस्कार वैयक्तिक होने के साथ ही जातीय भी होते हैं। जातीय संस्कारों की समष्टि ही संस्कृति कहलाती है। भाववाची संज्ञा होने से संस्कृति एक समुदाय वाचक शब्द माना जाता है।

> ***हिंदी भाषा के विकास में संस्कृति का बहुत महत्व रहा है। हिंदी भाषा में प्रयुक्त शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों के मर्म का उद्घाटन करने पर पता चलता है कि उनकी व्युत्पत्ति और विकास में संस्कृति का प्रचुर योगदान रहता है। यही बात गीतों, कथाओं और नाटकों आदि में प्रयुक्त घटनाओं एवं कल्पनाओं से भी प्रकट होती है।***

संस्कृति के दो पक्ष माने जाते हैं-बाह्य एवं आंतरिक। लोगों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, और आचार-विचार से बाह्य अंग का सम्बन्ध है तथा आध्यात्मिक चिन्तन का सम्बन्ध आन्तरिक अंग से है।

डॉ.सत्येन्द्र कहते हैं कि, 'प्रत्येक प्रकार का उत्पादन, प्रजनन, धर्म, अर्थो-पार्जन के साधन और विधियों, जादू-टोने, जन्त्र-मन्त्र-तन्त्र, जीवनचर्या के प्रसाधन, विलास तथा प्रणालियाँ, कला-कौशल सभी का सम्बन्ध संस्कृति से है।

संस्कृति शब्द जटिल बातों और अर्थों को प्रकट करता है, परन्तु इसका बहुत सरल रूप में प्रस्तुतिकरण किया जा सकता है। भारतीय समाज में जीवन के सोलह संस्कारों का प्रचलन है। इन सोलह संस्कारों से युक्त व्यक्ति सुसंस्कृत कहलाने का अधिकारी हो जाता है और उसका संस्कृत-युक्त रूप ही संस्कृति कहलाएगा। हमारी परम्पराएँ ही संस्कृति का आधार हैं। संस्कृति देश सापेक्ष होती हैं।

किसी भी मानव समाज की संस्कृति दीर्घ साधना की पदार्थ माध्यम से स्थूल परिणति है, जो एक प्रकार से समाजगत मानव की द्वितीय प्रकृति का स्थान ग्रहण कर लेती है और परंपरा की परतें उस पर लगातार जमती रहती हैं। मानव के विकास की सीढ़ियाँ इन परतों में समाई रहती है।

संस्कृति एवं हिंदी–हिंदी और संस्कृति का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? यह प्रश्न भले ही अपने में कुछ अटपटा सा लगता हो किन्तु यह कहना समीचीन प्रतीत होता है कि किसी भी भाषा के विकास में, उस भाषा से सम्बद्ध लोगों की संस्कृति का पूर्ण योगदान रहता है। इस विषय में **डॉ. गुलाबराय** कहते हैं कि "भाषा संस्कृति का कुछ बाहरी अंग सा है, फिर भी वह हमारी जातीय मनोवृत्ति की परिचायक होती है।"

यह कहना उचित है कि भाषा के संघटन में संस्कृति का पूर्ण योगदान रहता है। भाषा का स्वरूप किसी देश के आचार-विचार, कार्य-व्यापार, मान्यताएँ और आस्थाएँ, रीति-रिवाज और जीवनोपयोगी अन्य उपादानों के

आधार पर घड़ा जाता है। भाषा का प्रत्येक शब्द संस्कृति का पूर्ण परिचायक है। उदाहरणतः हमारे देश में स्त्रियों के नाम से पहले 'श्रीमती' तथा पुरुष के नाम के आगे श्रीमान् लिखने की परम्परा चली आ रही है। श्री का अर्थ लक्ष्मी, सरस्वती, योग्य और शुभ भी है। अर्थात् धन-धान्य और समृद्धि से भरा-पूरा जीवन। श्री हमारे भौतिक जीवन की समृद्धि का पूर्ण परिचायक है।

भारतीय धर्म के प्रति अटूट आस्था रखते हैं। अतएव हमारे नाम अधिकांशतः देवी-देवताओं के नामों से सम्बद्ध रहते हैं। भारतीय वर्णाश्रम धर्म को मानने वाले रहे हैं। नाम के उपरान्त प्रयोग होने वाले शर्मा, वर्मा, सिंह, दास आदि उपनाम आज भी वर्णाश्रम धर्म के परिचायक हैं। भारतीय प्रकृति के पुजारी होते हैं, हमारे देश में अनेक स्त्री और पुरुषों के नाम, प्राकृतिक उपादानों से जुड़े होते हैं जो हमारे अटूट प्राकृतिक अनुराग को प्रकट करते हैं। भोज्य-सामग्रियों के नाम भी हमारे देशवासियों की सुरुचि सुसम्पन्नता का परिचय देते हैं। अनेक दैनिक क्रियाओं में प्रयुक्त होने वाले शब्द जैसे 'सब्जी काटना' के स्थान पर 'सब्जी सुधारना' जैसे शब्दों का प्रयोग हमारी अहिंसात्मक प्रकृति का द्योतक है। इसी प्रकार दुकान 'बंद करने' के स्थान पर यह कहना कि मैं दुकान 'मंगल करके' आपसे मिलने आऊंगा, हमारी कल्याणकारी सोच का प्रतीक हैं। भूलवश भी कठोर शब्द हमारे द्वारा प्रयोग न किए जाएँ यह हमारी संस्कृति का ही प्रभाव दिखलाते हैं। सुहागिनों द्वारा चूड़ियाँ जब पहनते हुए टूट जाती हैं, तब यह कहने से भी परहेज किया जाता है कि 'चूड़ियाँ टूट गईं', उस समय महिलाएं यह कहती हैं कि मेरी 'चूड़ियाँ मोल गईं'।

उपरोक्त कुछ क्षेत्रों में प्रयुक्त होने वाले शब्द थे, जिनका उदाहरण दिया गया है कि कभी अशुभ शब्द मत बोलो। इनका कुछ क्षेत्रों में ही प्रचलन में हैं।

'कुशल' शब्द को ही लें जो चतुराई के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। यदि इसके इतिहास पर जाएंगे तो ज्ञात होगा कि यह उस संस्कृति का परिचायक है जब आश्रमों में नित्य पूजा-पाठ में लगे हुए गुरुजन शिष्यों से धार्मिक कृत्य-सम्पादनार्थ कुशाएं मंगाते थे और जो छात्र बिना हाथ चिरवाये कुशोत्पाटन करने में समर्थ था, उसे ही कुशल (कुश-ला) कुशाएँ लाने वाला कहा जाता था।

चतुर के अर्थ में ही 'निपुण' शब्द का प्रयोग होता है। जिसका अर्थ है व्यापार में चतुर, किन्तु यह वर्तमान अर्थों में रूढ़ हो गया है। 'प्रवीण' शब्द 'प्रकर्ष वीणायां प्रवीणः' से व्युत्पन्न है, जो वीणावादन की कुशलता का द्योतक है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रत्येक शब्द हमारी संस्कृति का परिचायक है और सांस्कृतिक उपादानों से ही व्युत्पन्न होता है। गाय (गो) का हमारे समाज में बहुत महत्वपूर्ण स्थान है, अतएव गोपुर, गोव्रज, गवेषणा, गोष्ठी, गवाक्ष, गोरस, गोरसी, गोपुच्छ आदि अनेक शब्द इसी से बने हैं और हमारी संस्कृति के परिचायक हैं। शब्दों के समान ही मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि भी जो भाषा के प्राण हैं, सब सांस्कृतिक वैभव का ही द्योतन करते हैं।

हिंदी भाषा के विकास में संस्कृति का बहुत महत्व रहा है। हिंदी भाषा में प्रयुक्त शब्दों, मुहावरों और लोकोक्तियों के मर्म का उद्घाटन करने पर पता चलता है कि उनकी व्युत्पत्ति और विकास में संस्कृति का प्रचुर योगदान रहता है। यही बात गीतों, कथाओं और नाटकों आदि में प्रयुक्त घटनाओं एवं कल्पनाओं से भी प्रकट होती है।

हिंदी-साहित्य भारतीय संस्कृति के उभय पक्षों-बाह्य एवं आंतरिक दोनों का पूर्ण परिचायक ही नहीं उन्नायक भी है। किसी देश का रहन-सहन, वेशभूषा, खान-पान, मॉंगलिक वस्तुएँ जो संस्कृति के बाह्य भाग हैं साहित्य के द्वारा ही उद्घाटित होते हैं। इसी प्रकार संस्कृति के आंतरिक पक्षों-जनता के आस्थाओं-विश्वासों, आध्यात्मिकता, जीवन-मृत्यु, समन्वय बुद्धि, वर्णाश्रम धर्म, बाह्य और आंतरिक शुद्धि, अहिंसा, करुणा, मैत्री और विनय, प्रकृति-प्रेम, उत्सवप्रियता आदि को हिंदी साहित्य सम्यक् रूपेण उद्घाटित करता है। वह इनका क्रमिक विकास भी बताता है तथा आदर्श और यथार्थ का भी निरूपण करता हुआ सदा संस्कृति और हिंदी-भाषा के विकास में सहायक बना रहता है।

(उपायुक्त, राज्य कर,
इंदौर, म.प्र.)

विश्व हिंदी दिवस के संकलपक शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव

— डॉ अर्चना त्रिपाठी

हिंदी सिर्फ भारत की भाषा नहीं, वह विश्व में भी अपना स्थान बना चुकी है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। हिंदी समस्त विश्व की है। यही कारण है कि आज विश्व हिंदी दिवस के लिए एक दिन भी सुनिश्चित कर लिया है। जिस तरह हमारे भारत में 14 सितंबर को हिंदी दिवस मनाया जाता है। उसी तरह दस जनवरी को विश्व हिंदी दिवस मनाने की परंपरा बनी। यह हिंदी के लिए गौरव पूर्ण है। विश्व हिंदी दिवस ही मनाने की शुरुआत क्यों हुई? विश्व में और भी कई भाषाएं हैं। उनके लिए कोई दिवस विशेष क्यों नहीं बना, यह प्रश्न उठता है खैर...! हमें इसकी गहराई में अभी नहीं जाना। विश्व में हिंदी ने जो स्थान बनाया है वह खास है। इसने अपना स्थान बनाने में अलग-अलग रूपों में अपने को प्रतिष्ठित किया। साहित्य में तो शुरु से ही इसका शीर्षस्थ स्थान था। विदेशों में फिल्मों, उसके गीतों तथा नाटक, अनुवाद के माध्यम से विकसित हुई है। किसी भी भाषा या बोली के लोग क्यों ना हो हिंदी के बिना उनका काम पूर्ण नहीं होता। भले ही उनकी हिंदी व्याकरण सम्मत या परिमार्जित ना हो, लिंग दोष बोलने में आए, उच्चारण दोष हो। हिंदी में एक सहजता सरलता है। जो इसे महत्त्वपूर्ण बनाता है।

भारत के कमोबेश हर क्षेत्र में हिंदी बोली जाती है। ये दूसरी बात है कि हिंदी अपने ही देश में थोड़ी सहमी सी है उत्तर भारत तो हिंदी भाषी क्षेत्र ही है। अहिंदी भाषी को भी हिंदी जानना और पढ़ना है। विश्व में भी अनिवार्य बनाने के लिए विश्व हिंदी दिवस मनाने की प्रेरणा या जरूरत हमें हुई। ऐसे देश भी हैं। जहां अच्छी संख्या है हिंदी भाषी लोगों की। भारत की सनातन संस्कृति को नजदीक से गहराई से जानने की उत्कंठा ने हिंदी के प्रति एक आकर्षण पैदा किया है। जिसने सबको इससे जोड़ा। हिंदी की समझ नहीं होगी तो वे भारत की विशेषताओं उसकी तमाम सभ्यताओं को बखूबी कभी समझ नहीं पाएंगे। अनुवाद से हम उतना नहीं जुड़ सकते। संवेदनशीलता में कमी आती है। किसी भी देश की सभ्यता, संस्कृति, पहनावा, खान पान, परम्पराओं, रीति रिवाजों को उसके इतिहास को तब तक अच्छी तरह नहीं समझ सकते जब तक कि वहां की भाषा की समझ न हो। उसपर अच्छी पकड़ न हो। अनिल जोशी अपने लेख " विश्व हिंदी दिवस " के प्रणेता में लिखते हैं -- " अभी हाल की तो बात थी। प्रवासी हिंदी उत्सव में ही तो अक्षरम् ने शैलेंद्र जी को (शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव) "विश्व हिंदी दिवस" की संकल्पना देने के लिए सम्मानित किया था।" अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्व प्रथम डॉ शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव ने विश्व

में भी हिंदी दिवस के लिए एक कल्पना की। वैसे राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिंदी सम्मेलन तो होते रहे समय - समय पर।अब उसके लिए एक निश्चित दिन के लिए सोचना था। अनिल जोशी ने शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव को "विश्व हिंदी दिवस का प्रणेता" कहा है जो कि सत्य है। उन्होंने लिखा है कि शैलेन्द्र नाथ जी ने ही सबसे पहले एक विचार बीज को जन्म दिया और उसे फल के रूप में परिवर्तित होते देखा। उन्होंने एक विचार की प्रसव पीड़ा को सहा, भोगा था।यह उनकी हिंदी भाषा और समाज को महत्वपूर्ण देन है।"

यह कहना बिल्कुल ग़लत नहीं होगा कि हिंदी को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित करने के लिए शैलेंद्र जी ने बहुत संघर्ष किया और इनका साथ सभी हिंदी प्रेमी ने भी दिया। जहां भी हिंदी की चर्चा होती शैलेंद्र जी अपने सुझाव दिया करते। अनिल जोशी, डॉ पद्मेश गुप्त इनके विचार व गंभीर सुझावों को लेते और मानते थे।

हिंदी को व्याकरण सम्मत व परिमार्जित करने का सारा श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को जाता है। इन्होंने कठोर भाषा अनुशासन का पालन किया। आज हिंदी भारत की भाषा नहीं विश्व में भी अपना परचम लहरा रही है। इसके लिए कड़ी मेहनत की गई है। और एक दिवस तय हुआ, जिसका सारा श्रेय निस्संदेह डॉ शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव जी को जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि विश्व में प्रसिद्ध हिंदी अपने ही देश में बेगानी क्यों?

> ***हमारे राष्ट्र का झंडा एक है। हमारे देश का राष्ट्रीय पर्व है। राष्ट्रीय फूल एक है, राष्ट्रीय फल है, राष्ट्रीय पशु है, राष्ट्रीय पक्षी है, राष्ट्रीय खेल एक है, और राष्ट्रीय भाषा के साथ खेल खेला जा रहा है। अत्यंत ही चिंतनीय विषय है। हमारे देश को आजादी मिले 76 साल पूरे हो गए। पर हमें एक राष्ट्र भाषा नहीं मिली, जो सर्वमान्य हो।***

यानी इसको अभी तक राष्ट्र भाषा के रूप में कानूनन मान्यता क्यों नहीं मिली। हमारे राष्ट्र का झंडा एक है। हमारे देश का राष्ट्रीय पर्व है। राष्ट्रीय फूल एक है, राष्ट्रीय फल है, राष्ट्रीय पशु है, राष्ट्रीय पक्षी है, राष्ट्रीय खेल एक है, और राष्ट्रीय भाषा के साथ खेल खेला जा रहा है। अत्यंत ही चिंतनीय विषय है। हमारे देश को आजादी मिले 76 साल पूरे हो गए। पर हमें एक राष्ट्र भाषा नहीं मिली, जो सर्वमान्य हो। अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग भाषाएं हैं। राजकाज की भाषा भी अलग - अलग है। क्या अड़चनें हैं, कौन सी बाधा है हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में। एक से एक मिसाइलें बन रही हैं। भारत नित नए तरक्की के पायदान चढ़ रहा है। एक छोटा सा काम --हमारी भाषा को मान्यता मिलना इसमें इतनी देरी? क्या हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित करना पर्वत तोड़ने जैसा कठिन है? अब तो पहाड़ भी आसानी से तोड़ मार्ग बनाए जा रहे हैं फिर हिंदी का मार्ग क्यों अवरुद्ध है? इसके मार्ग में कौन सी ऐसी पहाड़ रूपी कठिनाई है जो टूट नहीं रहा है। अब असह्य हो रहा है। सारी तरक्की अधूरी सी है, जबतक हिंदी को राष्ट्रभाषा न घोषित किया जाए।

"2002 की लंदन यात्रा से शैलेंद्र जी के मन में एक विचार जन्म ले चुका था। भारत में हिंदी दिवस मनाया जाता है परंतु हिंदी तो करोड़ों लोगों की भाषा है। यह सिर्फ भारत में नहीं ब्रिटेन, अमेरिका, मॉरीशस, कनाडा, त्रिविडाड, गुथाना, सूरीनाम, फिजी, दक्षिण अफ्रीका, जैसे कितने ही देशों में बोली जाती है। वे लोग हिंदी के वैश्विक संदर्भो से कैसे जुड़े? उन्हें लगा 14 सितंबर को मनाए जाने वाले हिंदी दिवस की सीमाएं हैं हमें हिंदी को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने के लिए विश्व हिंदी दिवस की संकल्पना को क्रियान्वित करना होगा।

सौभाग्य से सूरीनाम के विश्व हिंदी सम्मेलन की सलाहकार समिति में शैलेंद्र जी का नाम भी था। विश्व हिंदी सम्मेलन में उन्होंने औपचारिक रूप से " विश्व हिंदी दिवस " मनायें जाने का प्रस्ताव रखा। अनुमोदन किया श्री भगवत सिंह ने।प्रस्ताव पारित हुआ। अब प्रस्ताव को लागू भी करवाना था।"

प्रस्ताव तो तमाम बनते हैं। पारित भी होते हैं। पर वह लागू नहीं हो पाता। अब चुनौती यह थी कि उसे लागू कैसे

किया जाए? तथा तिथि कौन सी हो जिसे तय माना जाए।" फिर उनके मन में विचार शुरू हुए की कौन सी तिथि को विश्व हिंदी दिवस के रूप में प्रस्तावित किया जाए? क्या प्रवासी हिंदी दिवस को ही विश्व हिंदी दिवस घोषित किया जाए? क्या पहले विश्व हिंदी सम्मेलन की तिथि को यह दिवस मनाया जाए? कार्यक्रम का क्या स्वरूप दें? कहां और किस रूप में मनाया जाए?अपने विचारों को कलमबद्ध करते हुए इन्होंने तत्काल विदेश मंत्री यशवंत सिन्हा को 11 जुलाई 2003 को एक लंबा पत्र लिखा .... " सातवें विश्व हिंदी सम्मेलन में मैंने एक प्रस्ताव रखा था, जिसे एक मत से पारित किया गया कि वर्ष में एक दिन विदेश मंत्रालय द्वारा विश्व हिंदी दिवस का आयोजन कर, संपूर्ण विश्व का ध्यान हिंदी के महत्व की ओर आकृष्ट किया जाए। कई देशों सहित भारत सरकार ने किसी विशेष महत्वपूर्ण बिंदु की ओर व्यापक विश्व समुदाय का ध्यान आकृष्ट करने के लिए पहले भी ऐसे दिवसों की घोषणा की है.... "अंतर्राष्ट्रीय साक्षरता दिवस", "विश्व नाट्य दिवस", " राजभाषा दिवस", " प्रवासी दिवस आदि तय किए गए हैं। अतः यदि हम किसी एक दिवस को विश्व हिंदी दिवस घोषित कर, उस दिन सारे विश्व में अपने दूतावासों, उच्चायोगों एवं वाणिज्यिक संस्थानों के माध्यम से विश्व हिंदी दिवस का आयोजन करें तो एक निश्चित समय पर हिंदी की चर्चा सारी दुनिया में होगी और विश्व मीडिया के माध्यम से इसकी ओर उन देशों का भी ध्यान आकर्षण होगा जिनके साथ हमारे राजनीतिक संबंध आज नहीं है पर भविष्य में हो सकते हैं। जहां तक इसके लिए तिथि निर्धारित करने की बात है, मैं ने ' 10 जनवरी का सुझाव दिया था, चुंकि 10 जनवरी 1975 को प्रथम विश्व हिंदी सम्मेलन हुआ था, जिसके बाद ही विश्व स्तर पर हिंदी की व्यापक चर्चा होने लगी। शैलेंद्र जी ने अपने पत्र में विश्व हिंदी दिवस के भावी स्वरूपो तथा आयोजन के तौर तरीकों को लेकर भी विस्तृत सुझाव दिए ताकि उसे लागू किया जा सके।

शैलेंद्र जी विदेश मंत्रालय में विश्व हिंदी सम्मेलन के प्रस्तावों की अनुवर्ती कार्यवाही के संबंध में समिति के सदस्य थे। इस विषय को वे निरंतर उठाते रहे तथा "अंततः विश्व हिंदी दिवस की संकल्पना भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर ली गई।

हिंदी में वह सभी गुण विद्यमान है जो उसे अन्य भाषाओं से पृथक बनाती है। इसके भाव में संवेदना है, जो स्निग्धता से सब को अपना बनाती है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही है कि अपनाने को विवश करती है। यथा.... "कथा गीत ग़ज़ल नज़्मों में ढली हूं मैं हिंद की हिंदी हूं समस्त विश्व की हिंदी हू।

वर्ष 2006 में पहली बार 10 जनवरी को विश्व हिंदी दिवस मनाया गया। शैलेंद्र जी को संतोष था कि विश्व हिंदी दिवस के प्रस्ताव को कार्यांवित किया गया।" तमाम देशों में यह दिवस बहुत उत्साह से मनाया गया। इसके लिए शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव जी को सम्मानित भी किया गया। परन्तु वो सम्मान की लालसा से उबर चुके थे। अपने जीवनकाल में वे लगातार हिंदी को आगे बढ़ाने के लिए प्रतिबद्ध रहे। हिंदी अब विश्व पटल पर अपना स्थान बना चुकी थी।

कुछ पंक्तियों में व्यक्त करूं तो हिंदी स्वयं को कहती है----

"मैं हिंदी हूं, हिंद की नहीं,
समस्त विश्व की हिंदी हूं
वर्चस्व है मेरा,
मेरी अपनी अद्भुत पहचान है
न मैं हीन हूं, न उपेक्षित हूं,
सभी के लिए अपेक्षित हूं
मेरा ज्ञान सहज सरल है,
शिक्षितों की शालीनता हूं
संस्कारवान सुसंस्कृत हूं,
मेरी सुचिता का सम्मान करो
हिंदी का आह्वान करो,
निःसृत हूं संस्कृत गर्भ से
ईर्ष्या नहीं अन्य भाषा से,
स्वर व्यंजन से सुघड़ सजी हूं।"

हिंदी में वह सभी गुण विद्यमान है जो उसे अन्य भाषाओं से पृथक बनाती है। इसके भाव में संवेदना है, जो स्निग्धता से सब को अपना बनाती है। बल्कि यह कहना ज्यादा सही है कि अपनाने को विवश करती है। यथा .....

"कथा गीत ग़ज़ल नज़्मों में ढली हूं
मैं हिंद की हिंदी हूं समस्त विश्व की हिंदी हूं।

मुझ पर करो सदा अभिमान,
देश का ऊंचा होगा मान
हनन करती अज्ञानता का,
लहराते सब विजय पताका
मेरा ज्ञान बना स्वाभिमान,
नहीं किसी की बंदी हूं।
अपने आप में समृद्ध संधि हूं
मैं समस्त विश्व की हिंदी हूं।"

हिंदी भारतीय संस्कृति की पहचान है। हमारी संस्कृति को सुदृढ़ करने में इस हिंदी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। हिंदी भाषा ने भारतीय संस्कृति को एक अलग पहचान दी है। भारतीय संस्कृति तो मनुष्य मात्र की अत्युत्तम संपत्ति है। मानव व समाज को पहले भी इसकी जरूरत थी आज भी है और भविष्य में भी सदैव रहेगी। जब तक मानव के हृदय में सुख तथा शांति की खोज की जिज्ञासा बनी है, जब तक मानव सभ्यता में सभी के कल्याण के लिए जगह है, जब तक दूसरों की चिंता दुर्गुण नहीं माना जाता, जब तक ज्ञान तथा सहिष्णुता की श्रेयस्कारिता को अस्वीकृत नहीं किया जाता, तब तक भारतीय संस्कृति के आलोक की आवश्यकता मनुष्य को बनी रहेगी। डॉक्टर संपूर्णानंद के शब्दों में देखें तो इनका कहना है कि---"भारत के निवासियों में सबसे बड़ी संख्या हिंदुओं की है। भारतीय संस्कृति की रक्षा का मुख्य भार भी हिंदुओं पर ही है। यह अक्षरशः ठीक भी है कि यह संस्कृति

> ***हिंदी बहुत ही सरल व सहज है संस्कृत के तत्सम शब्दों, क्लिष्ट शब्दों के बाद भी हिंदी सरल ही है और आमजन भी इसे सहजता से ग्रहण कर लेते हैं। सिर्फ पढ़ा-लिखा वर्ग ही नहीं जो सामान्य वर्ग है शिक्षित नहीं है वह भी हिंदी समझने में सक्षम है यह इसकी विशेषता है।***

किसी एक जाति एक वर्ण एक संप्रदाय की संपत्ति नहीं है इसके वर्तमान कलेवर को छोटी-बड़ी कई धाराओं ने पुष्ट किया है। जिससे कुछ का उद्गम भारत के बाहर है लेकिन हम देखते हैं कि समुद्र तक पहुंचते-पहुंचते गंगा में सैकड़ों छोटी बड़ी कई नदियों का जल मिल जाता है और यह मेल ऐसा होता है कि एक नदी का पानी दूसरे पानी से अलग नहीं किया जा सकता। फिर भी भागीरथी की मुख्यधारा वही है जो हिमालय की गोद की में पलकर हरिद्वार के पुण्य क्षेत्र में हमको दर्शन देती है। गंगा का गंगत्व तो इसी धार पर है।" इसी प्रकार भारतीय संस्कृति की रक्षा का भार भी। भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग वही है जिसका विकास आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व सिंधु तथा सरस्वती के किनारे भृगु, अथर्व, अंगिरा, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र के तपोवन में हुआ था। तब से उसमें बहुत सी देशी-विदेशी संस्कृतियों का योग हुआ है इसने सबको अपनाया है और एक नया रूप दिया है।

भारतीय आज समस्त विश्व में फैले हुए हैं वे विदेशों में भले रह रहे हैं। पर उनकी जड़ें भारत से जुड़ी हुई है। जिसकारण उनके हृदय में हिंदी भाषा की धमनियां प्रवाहित हैं। उसी से निकल कर वह उस स्थान विशेष को भी अपने रंग में समाहित करती है। हम सबके लिए सदैव यह ध्यातव्य होना चाहिए कि इस धरा से ही भारतीय संस्कृति का भारतीयपन, उसका व्यक्तित्व है। इसकी रक्षा का भी दायित्व हम सब पर हैं। अतः इसे विलुप्त होने से भी बचाना है। आज हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य का अनुकरण बहुत तेजी से हो रहा है जिससे यह चिंता बनती है कि हम अपनी संस्कृति की जड़ों से कटे नहीं, चाहे परिस्थितियां कैसी भी हो। यदि परंपरा लुप्त हो गई तो हमारी संस्कृति विशेषता भी लुप्त हो जाएगी।

जिस प्रकार भारत में पाश्चात्य देशों के अनुकरण हो रहे हैं वह चिंता का विषय है इस पर विशेष ध्यान रखना है कि हम दूसरों के नकल के प्रभाव में आकर अपनी संस्कृति से दूर ना हों। इसी चिंता को डॉक्टर संपूर्णानंद ने अपने निबंध " हमारा सांस्कृतिक पतन" में जताया है। लेखक को डर है कि---" राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से अभ्युत्थित होकर भी हम सांस्कृतिक दृष्टि से पतित ही न बने रहें यह डर इसलिए होता है कि हम सबको अपनी पराधीनता, दुर्बलता तथा दरिद्रता का पता है परंतु सांस्कृतिक पतन का पता नहीं है हम अपनी आत्मा

अपनेपन को खोते जा रहे हैं खो रहे हैं। पर इस बढ़ती हुई क्षति की ओर हमारा ध्यान नहीं गया है। एक दिन ऐसा आ सकता है कि शरीर हमारा रह जाए पर इसमें निवास किसी दूसरी आत्मा का हो जाए। हमारी आत्मा मर चुकी होगी हमारी अपनी आत्मा। हमारा सांस्कृतिक जीवन दूसरों की प्रतिकृति नकल मात्र होगा।"

वहीं यह इत्मीनान भी है कि हिंदी की भी अपनी कलम विभिन्न विदेशों में रोपी गई है जो अब अपनी पहचान बना चुकी है वह अब पेड़ का रूप ले अपना बड़ा आकार ले रही है। भारतीयों को सचेत रहना है कि हम अपनी संस्कृति का पतन ना होने दें। सभी को अपने कर्तव्यों और फर्ज के प्रति सदैव तत्पर रहना है। जिस संस्कृति पर मनुष्य अब तक गर्व करता आया है उसे संभाले रखना भी हम सबके साथ अगली पीढ़ी की जिम्मेदारी है। संस्कृति की रक्षा का सबसे बड़ा दायित्व शिक्षित वर्ग के उस पर है जिसको हमारे समाज का नेतृत्व जन से ही प्राप्त है यानी ब्राह्मण वर्ग। क्योंकि शास्त्रों की रक्षा करके भारत ही नहीं सारे सभ्य जगत पर महान उपकार करने का श्रेय ब्राह्मण को है। हमारी संस्कृति के उत्तरोत्तर वृद्धि में इसका महत्वपूर्ण योगदान है। हिंदी को समृद्ध करने में उत्तर प्रदेश का महती योगदान अलग से रेखांकित करने योग्य है। हिंदी को समृद्ध करने में प्रदेश विशेष ही नहीं देश भर के साहित्यकार हिंदी में लिख हिंदी साहित्य को समृद्ध करने में अपना बहुमूल्य योगदान देते रहे हैं और दे रहे हैं। साहित्य सेवा निरंतर जारी है हिंदी सभी को लुभा अपने रंग में रंग रही है।

> **"किसी भी भाषा को विजयी होने में स्थापित होने में समय लगना व संघर्ष करना ही पड़ता है। तमाम मुश्किलों का सामना करते जूझते आज हिंदी देश ही नहीं परदेश में भी अपनी गहरी पैठ बना चुकी है। यह दूसरी बात है कि अभी भी हिंदी राष्ट्र की भाषा का स्थान कानूनी तौर पर नहीं ले पाई।**

किसी भी भाषा को विजयी होने में स्थापित होने में समय लगना व संघर्ष करना ही पड़ता है। तमाम मुश्किलों का सामना करते जूझते आज हिंदी देश ही नहीं परदेश में भी अपनी गहरी पैठ बना चुकी है। यह दूसरी बात है कि अभी भी हिंदी राष्ट्र की भाषा का स्थान कानूनी तौर पर नहीं ले पाई। साहित्य के द्वारा ही हिंदी अपने राष्ट्र से होती हुई विश्व के तकरीबन देशों में अपनी मधुर, शीतल, प्रेम व आपसी भाईचारे को बढ़ावा देने वाली भाषा बन चुकी है। इसके विस्तार में जाते हैं तो इतिहास गवाह है कि हिंदी बहुत ही सरल व सहज है संस्कृत के तत्सम शब्दों, क्लिष्ट शब्दों के बाद भी हिंदी सरल ही है और आमजन भी इसे सहजता से ग्रहण कर लेते हैं। सिर्फ पढ़ा-लिखा वर्ग ही नहीं जो सामान्य वर्ग है शिक्षित नहीं है वह भी हिंदी समझने में सक्षम है यह इसकी विशेषता है।

संदर्भ

1. 'नमन' श्री शैलेंद्र नाथ श्रीवास्तव संपादक डॉ सत्यदेव ओझा सन् 2006 पृष्ठ 75
2. 'नमन' श्री शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव संपादक डॉ सत्यदेव ओझा सन् 2006 पृष्ठ 78
3. 'नमन' श्री शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव संपादक सत्यदेव ओझा सन् 2006 पृष्ठ 76
4. 'नमन' श्री शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव संपादक सत्यदेव ओझा सन् 2006 पृष्ठ 77
5. 'नमन' श्री शैलेन्द्र नाथ श्रीवास्तव संपादक सत्यदेव ओझा सन् 2006 पृष्ठ 77.
6. "हमारा सांस्कृतिक पतन" डॉ. संपूर्णानंद पुस्तक अक्षय वट पृष्ठ संख्या -23, 24
7. "हमारा सांस्कृतिक पतन" डॉ. संपूर्णानंद पुस्तक अक्षय वट पृष्ठ संख्या- 22, 23
8. "अक्षय वट" सं. डॉ. भूपेंद्र कलसी प्रथम संस्करण, निर्मल पब्लिकेशन पृष्ठ संख्या- 13, 14
9. "अक्षय वट" सं डॉ भूपेंद्र कलसी पृष्ठ संख्या -14
10. वही पृष्ठ- 14
11. वही पृ-39
12. वही पृ-39
13. वही -पृ39, 40

(डॉ अर्चना त्रिपाठी
श्री अरविन्द महिला कालेज
काजीपुर पटना-4, बिहार)

समकालीन हिंदी कविता में पृथ्वी और मानवेतर संवेदना

— प्रोफेसर विनोद कुमार मिश्र, रजनीश कुमार

समकालीन हिन्दी कविता वस्तुतः नयी कविता के बाद के काल को माना जाता है। समकालीन जीवन त्रासदियों के संत्रास का जीवन है। इस दौर की कविताओं में व्यापक स्तर पर विमर्श एवं आंदोलन चला। समकालीन हिन्दी कवियों ने पृथ्वी के बचाव हेतु हरसंभव चिंता व्यक्त की है। पृथ्वी पर भविष्य-जीवन की खुशहाल संभावनाओं की जिम्मेदारी समकालीन कविता की करवट है जिसे बहुत मार्मिक ढंग से कवियों ने प्रस्तुत किया है। मानव जीवन के सहचर और प्रकृति के संतुलन के अनन्य साथी मानवेतर जीव-जन्तु, नदी, पहाड़, पेड़-पौधे जंगल आदि कितना महत्व रखता है एक बेहतर दुनिया के लिए, इसे समकालीन कवियों की पंक्तियों में सहज ही अनुस्यूत होता देखा जा सकता है। प्रकृति के साहचर्य में ही मनुष्य के सुंदर सपने सहेजे जा सकते हैं। मानव पूर्ण रूप से तभी मानवीय हो सकता है जब वे मानवेतर जैव वैविध्य के साथ एकीकृत होकर जीवन का अनुसरण करे। आधुनिक जीवन शैली ने जिस प्रकार से मनुष्य को मशीनीकरण में धकेल रखी है – मनुष्य जाति के सुंदर भविष्य की कल्पना भयावह लगती है। इस कड़ी में समकालीन कवियों की पारिस्थितिक चिंता सहज स्वाभाविक लगती है। मनुष्य का जीवन इस पृथ्वी पर मानवेतर प्राणियों तथा पेड़-पौधे से नभिनालबद्ध है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

कविता जिस प्रकार सदियों से राजा से लेकर जनता तक को मनोरंजित एवं ज्ञानवर्द्धित करती आई है। उसी प्रकार कविता में प्रत्येक काल एवं युग के विमर्श तथा आयाम निर्धारित हुए हैं। समकालीन हिन्दी कविता यथार्थ की नवीनतम सीढ़ी है। 21सवीं सदी में कविता की जरूरत और कविता में संवेदना की गहनता और अधिक प्रासंगिक हो गई हैं जबकि मूल्य और मौलिकता का ह्रास विज्ञान के युग में सहज ही पहचान ली जाती है। रामदरश मिश्र ने कविता की जरूरत और मनुष्य के साथ उसके तादात्म्य संबंधित उल्लेखनीय दृष्टि दी है। उनका कहना है कि “कविता मनुष्य की एक बहुत गहरी भीतरी जरूरत है।”[1] मनुष्य की भीतरी जरूरत में संवेदना की ग्राह्यता ही मनुष्य को कविता में आलोड़न पैदा करती है। संवेदनशील होना मनुष्य की सहज वृत्ति है। संवेदना साहित्य का मूल उत्स है जिसके बिना पाठक या श्रोता पर भाव के गहनतम छाप नहीं छोड़े जा सकते। वे पुनः उद्धृत करते हैं कि “कविता ही मनुष्य को

मनुष्य की पहचान वापस करती रहती है, इसके लिए उसे मूलतः संवेदनात्मक होना ही पड़ेगा।"[2] 'कविता को संवेदनात्मक होना ही पड़ेगा' एक मान्य स्थापना है जिससे आज के आधुनिक जीवन में कविता की महती भूमिका पर केन्द्रीय बल फलीभूत हो सके। साहित्य की किसी भी विधा में संवेदना उसका केंद्र रहा है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी लिखते हैं कि "साहित्य का केंद्र संवेदना है, विचारधारा नहीं। साहित्य सृजन विचारधारा के बिना तो संभव है, पर संवेदना के बिना नहीं।"[3] यह स्थापना समकालीन कविता के संवेदनात्मक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण साबित होती है।

समकालीन हिन्दी कविता 1975 ईस्वी के बाद आख्यान का वह बदलता हुआ स्वरूप अंकित करता है जिसमें आम जीवन के सूक्ष्म पहलुओं को उजागर करने में महती सफलता मिली है। यह काल खंड हिन्दी कविता के इतिहास में नूतन से नूतन विषयों पर भाव अभिव्यक्त करने की इजाजत देता है। समकालीन हिन्दी कविता आख्यानमूलकता के साथ दृश्यात्मक तत्त्वों पर अधिक केंद्रित है। यह इस काव्यात्मक काल विशेष की महत्वपूर्ण विशेषताओं में से एक है। इसी संदर्भ राजेश जोशी का यह विचार ध्यातव्य होगा जहाँ वे कहते हैं कि "समकालीन कविता में ज्यादा जोर दृश्य पर है।"[4] आख्यान के चुनाव के संदर्भ में वे लिखते हैं –"एक हद तक समकालीन कविता का आख्यान आसपास के जीवन और हमारे जातीय अनुभव को दर्ज करने की कोशिश जान पड़ता है।"[5] यह समय आधुनिक जीवन के रोजमर्रे के बीच का साहित्यिक युग है। विज्ञान और भौतिक युग के बीच कविता में संवेदना और उसके उपरांत मानवेतर संवेदना की बात करना केवल पाठकों को अनुरंजित करने के उद्देश्य से नहीं लिखी गई अपितु मानवीय जीवन को मानवेतर प्राणी तथा अन्य पदार्थों से तादात्म्य स्वीकार करने हेतु लिखी गई है। विश्वनाथ प्रसाद तिवारी का यहाँ तक मानना है कि "नदी-निर्झर, समुद्र – पहाड़, पशु-पक्षी, वृक्ष-वनस्पत्तियों आदि के साथ मनुष्य का आदिम संबंध है। इनसे अलग करके मनुष्य के भयावह अकेलेपन की कल्पना की जा सकती है।"[6] कविता में यह साहस अधिक सक्रिय हो जाता है जब दृश्य की संवेदना का प्रवाह भाव में अभिव्यक्त होता है। मनुष्य का जीवन प्रकृति से अलग-थलग बिल्कुल नहीं रह सकता, उसके साथ चलता है। आधुनिक काल के वैज्ञानिक जीवन शैली ने पारिस्थितिकी की चिंता बढ़ा दी है। परिणामस्वरूप, मनुष्य का जीवन रोगग्रस्त और अशुद्ध खानपान के कारण नई-नई बीमारियों से घिरा हुआ है। नित्य नवीन खोज हो रहे हैं, खनिज संसाधन के दुरुपयोग और लगातार बढ़ रहे प्रदूषण से आज का औसत जीवन स्तर कम हो गया है। शहरों में पक्षी-विघटन लगातार जारी है। लीलाधार जगूड़ी 'इतिहास से भी पहले' कविता में लिखते हैं –

> **"समकालीन हिन्दी कविता में प्रकृति सूक्ष्म रूप से उपस्थित होती है। खासकर किसी पेड़ या पशु अथवा पक्षी के लगाव व उसके पीड़ा का संज्ञान दिलाने हेतु समकालीन कवियों की छटपटाहट सहज ही देखा जा सकता है।**

"मैं रहना चाहता हूँ कुछ इस तरह
कि एक मनुष्य
इस पृथ्वी को इसके रसातल से
जानता हो
एक मनुष्य जो इस पृथ्वी को इसके
तलातल से जानता हो"[7]

कवि इस विश्वास के साथ पृथ्वी पर जीना चाहता है कि मानव जाति की संपूर्ण अस्मिता और नैतिक प्रतिबंध का सीमांकन भी संभव होता दिखे। मनुष्य को पृथ्वी पर उत्कट जीव की संज्ञा दी गई है क्योंकि वह चिंतन करता है, विचार करता है और बेहतर जीवन की कामना हेतु विकास के नये-नये आयाम गढ़ता है। पृथ्वी पर पेड़-पौधे और पशु-पक्षी का योगदान सर्वविदित है कि पारिस्थितिकी संतुलन में यह कितनी मुख्य भूमिका निभाती है। पृथ्वी पर जन-जीवन आधुनिक समय में अत्यंत विकट स्थिति में पहुँच चुकी है। लेकिन चिड़ियाँ एक स्थान से दूसरे स्थान अपनी जगह उड़ान भरकर बदल लेती है। चिड़ियों के पलायन के संदर्भ में मदन कश्यप लिखते हैं कि –

"सुख गया तालाब
तो मरेंगी मछलियाँ
मरेंगे कछुए और केंकड़े
और यदि हुए तो मगरमच्छ भी
चिड़ियों का क्या
वे चली जाएंगी दूर"[8]

समकालीन हिन्दी कविता में प्रकृति सूक्ष्म रूप से उपस्थित होती है। खासकर किसी पेड़ या पशु अथवा पक्षी के लगाव व उसके पीड़ा का संज्ञान दिलाने हेतु समकालीन कवियों की छटपटाहट सहज ही देखा जा सकता है। जंगल का अपना तंत्र होता है जहाँ पशुओं के कबीले होते हैं। मानवेतर प्राणी की पीड़ा को कवि उदय प्रकाश जंगल का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। वे पूर्णरूप से आश्वस्त दृष्टिकोण से लिखते हैं –

"दो हाथियों की लड़ाई में
सबसे ज्यादा
टूटते हैं पेड़
सबसे ज्यादा मरती हैं
चिड़ियाँ
जिनका हाथियों के पूरे कबीले से
कुछ भी लेना-देना नहीं
दो हाथियों की
लड़ाई को
हाथियों से ज्यादा
सहता है जंगल"[9]

चिड़ियों का होना कितना जरूरी होता है यह शहरी परिदृश्य में लुप्तप्राय पक्षियों के झुंड देखकर ही प्रतीत होता है। मनुष्य अपने समाज में पालने के लिए कुत्ता रख लेता है लेकिन शाम को उसके डायनिंग टेबुल पर थाली में मुर्गी अथवा बकरे का मांस खाने को मिलता है। समाज का ऐसा वर्ग जो पशु प्रेमी होकर भी पशुओं का भक्षक बना हुआ है। इस स्थिति में मानवेतर संवेदना की किस पहलू पर बात करने से प्रकृति के नियामक संस्कृति के सहयोग में मानवीय भूमिका निर्धारित हो सकती है – एक विवेकपूर्ण विमर्श की ओर रेखांकित करता समकालीन कवि उपस्थित होता है।

"इंद्रधनुषों से छूटे हुए तीर सी
आती हैं चिड़ियाँ अधीर सी
प्यार करते हैं इनके झुंड के झुंड
गेहूँ और धान से
झील झरने नदी नाले बांग बंजर
सब जगह सब कुछ कर लेते हैं
नालियों में भी मुँह मार लेते हैं
चलकर पशुओं की पीठ
खुजला देते हैं
जूँ बीन लेते हैं सम्मान से"[10]

चिड़ियों के मानिंद पृथ्वी पर आवाजाही करने वाला जीव शायद ही हो। एक चिड़िया जो चोंच भर दाना लेकर उड़ जाती है आसमान में, मीलों दूरी तय करती है। दरअसल यह समकालीन हिन्दी कविता का नवीन सौंदर्यशास्त्र है जिसमें मानवेतर प्राणियों में जैव बोध और तत्पर जीवन जीने की अभिलाषा उत्पन्न होता दिखाई देता है।

समकालीन हिन्दी कविता की यह खास विशेषता है कि जिनकी भाषा नहीं होती उनकी पीड़ा की आवाज़ को पुख्ता करने में ये कवि अपनी कोई कसर नहीं छोड़ते। मूक को मुखर करने की यह प्रवृत्ति समकालीन हिन्दी कविता की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। विनोद कुमार शुक्ल की एक कविता है 'जमीन पर बैठा पक्षी' जिसमें वे कहते हैं –

"आकाश से आकर पक्षी
पेड़ पर बैठते हैं
तो क्या उन्हें लगता होगा
कि वे पृथ्वी पर जाकर बैठे हैं!"[11]

चिड़ियों के मानिंद पृथ्वी पर आवाजाही करने वाला जीव शायद ही हो। एक चिड़िया जो चोंच भर दाना लेकर उड़ जाती है आसमान में, मीलों दूरी तय करती है। दरअसल यह समकालीन हिन्दी कविता का नवीन सौंदर्यशास्त्र है जिसमें मानवेतर प्राणियों में जैव बोध और तत्पर जीवन जीने की अभिलाषा उत्पन्न होता दिखाई देता है। कवि यहाँ एक विचार रखता है जिससे मनुष्य के सापेक्ष चिड़ियों की महती भूमिका के दृढ़ संकल्प दृष्टिगोचर होता है। पृथ्वी और आकाश चिड़ियों का उभय-गृह है। जहाँ धरती पर पेड़ अथवा अन्यत्र नीड़ में रहकर विश्राम करते हैं वहीं आकाश में दिनभर उड़ान भरते हैं। चिड़ियों का पृथ्वी और आकाश के बारे में सोचना उसका मौलिक और नैतिक कर्तव्य है जिसे कवि ने सहज ही उद्धृत किया है। यहाँ एक

बात जोड़ देना जरूरी है कि मनुष्य के सदृश चिड़ियाँ पृथ्वी और आकाश का रत्तीभर नुकसान नहीं पहुँचाता। कवि इस संकेत को प्रस्तुत करने में पूरी तरह सफल है। अशोक वाजपेयी की एक कविता 'चिड़ियाँ आयेंगी' पक्षियों के पक्ष में जीवन-संगीत का आना है। वे कहते हैं कि

"नीम और अमरूद के
वृक्षों की शाखाओं पर
हरी पत्तियों, निबौलियों और
गदराते फलों के बीच
चिड़ियाँ समवेत गान की तरह
हमारा बचपन हमारा जीवन
हमारी मृत्यु सब एक साथ गायेंगी।"[12]

पक्षियों के गान में जीवन का संगीत ढूँढना, खासकर हरी पत्तियों और गदराते फलों के बीच दरअसल जीवन में स्वाद भरना है। कवि मानवेतर जैव विविधताओं से आपूरित ये पंक्तियाँ मानव जाति के निमित्त लिखी है लेकिन मनुष्य के साहचर्य में चिड़ियों के समवेत गान को कवि जीवन की विविधा को आँकता हुआ प्रस्तुत होता है। समकालीन जीवन विज्ञान की तरक्की का जीवन है जिससे मानवीय सरोकार की भावनाएँ घट रही हैं। किन्तु, कवि यहाँ मानवेतर प्राणी का आजीवन साहचर्य बताकर जीवन को खुशहाल बनाने की सायास कोशिश की है। आधुनिक जीवन शैली में मनुष्य प्रकृति से दूर होता दिखाई दे रहा है जैसे पेय जल हेतु तालाब और कुएँ के पास लोग नहीं जाते अपितु घर में लगे नल से पानी पीते हैं। शहर जीवनशैली में घर में ही हवा और मौसम तक कैद हो गया है।

> **"समकालीन कवियों की पर्यावरणीय चिंता कविता को समय सापेक्ष संज्ञानता और जागरूक पाठक की समझ को बढ़ाती है। कितना इहलौकिक और वास्तविक संघर्ष एक पेड़ की किस्मत में है कि वह पृथ्वी और आकाश दोनों के बारे में सोचता है ! दरअसल यह सोचना पेड़ का प्रकृति के निमित्त दायित्व निर्वहन करने की प्रक्रिया भर है।**

स्विच चालू करने से वातानुकूलित कमरा हो जाता है। भले मानव जीवन कितना भी आधुनिक हो जाए किन्तु प्रकृति से दूरी मनुष्य की नियति में नहीं है जिसका स्पष्ट संकेत समकालीन कविता देती है।

समकालीन हिन्दी कविता की मुखर चेतना पर्यावरण की दृष्टि से भी अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। साहित्य-समाज-जीवन पृथ्वी नामित ग्रह पर ही संवर्द्धित होता है अतएव समकालीन कवियों की चिंताओं में समाज के साथ-साथ पृथ्वी की भी है। पृथ्वी पर केवल मनुष्य ही नहीं अपितु मानवेतर प्राणी पेड़-पौधे, नदी, पहाड़ आदि अवस्थित हैं। कवियों की दृष्टि में पृथ्वी और पृथ्वी पर बसे सभी जीवों का बचा रहना ही मनुष्य के सुंदर भविष्य की कल्पना करना है। मंगलेश डबराल की एक कविता है 'पेड़' जिसमें पृथ्वी बचाने की जिजीविषा को उत्कट भाव से दिखाया गया है।

"वे बने हैं करोड़ों चिड़ियों की नींद से
हमने उन्हें कभी नाराज़ या
बौखलाते हुए नहीं देखा
नहीं देखा सर धुनते हुए
वे सोचते रहते हैं कुछ
पृथ्वी और आकाश में
बराबर बँटे हुए"[13]

एक पेड़ अपने जीवन काल में लाखो साँसों को सँवारता है। वह एक निश्चित स्थान पर स्थित होकर मनुष्य तथा अन्य जीव-जंतुओं की प्राणधारा बनती है। साँसों के बिना जीवन कहाँ ? किन्तु कवि की भावुकता पर्यावरण के संतुलन की भावुकता है तथा मानवता की भावुकता है। पेड़ जीवन की महत्वपूर्ण इकाइयों में से प्राथमिक है। इसके बिना जीवन की स्वस्थ कामना नहीं की जा सकती है। समकालीन कवियों की यह पर्यावरणीय चिंता कविता को समय सापेक्ष संज्ञानता और जागरूक पाठक की समझ को बढ़ाती है। कितना इहलौकिक और वास्तविक संघर्ष एक पेड़ की किस्मत में है कि वह पृथ्वी और आकाश दोनों के बारे में सोचता है ! दरअसल यह सोचना पेड़ का प्रकृति के निमित्त दायित्व निर्वहन करने की प्रक्रिया भर है। पृथ्वी का संतुलन बनाये रखने में जीव-जंतुओं से पहले एक पेड़ की भूमिका महत्वपूर्ण होती है।

कवि ज्ञानेंद्रपति 'पेड़ों का पक्ष' कविता में लिखते हैं –

"काटे जा रहे पेड़ों के
पक्ष में

कुल्हाड़ियों और आरियों को
कोसते हुए
लिखी जाएंगी कविताएँ, हमदर्द
और उन कविताओं की
किताबों के कागज के लिए
काटे जायेंगे पेड़ पर पेड़ पर पेड़
फिर-फिर।''[14]

ज्ञानेन्द्रपति के लिए पर्यावरण एक परिवार की पृष्ठभूमि है जिसके शासन में रहना नियत और मौलिक कर्तव्यों की गरिमा है। उनके यहाँ कविताओं में पर्यावरण की चिंताएँ मात्र नहीं अपितु पृथ्वी की सिसकी भी साथ रहती है। पृथ्वी के सन्निकट उसकी गोद में अंगड़ाई लेने से पहले उसकी चिंता एक कवि के लिए कितना आवश्यक होता है, यह इनकी कविताओं में सर्वसुलभ विशेषता के तौर पर देखा जा सकता है। ज्ञानेन्द्रपति की कविता 'यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है' में प्रश्नाकूल विचारणीय तथ्य उद्घाटित हुआ है। वे लिखते हैं –

''मैं पूछता हूँ
यह पृथ्वी क्या केवल तुम्हारी है ?
क्या तुम्हें
एक केंचुए के पास जाकर
पृथ्वी को उर्वर करने में
तल्लीन केंचुए के पास
नहीं पूछना चाहिए
पृथ्वी के बारे में कोई भी
अहम फैसला लेने से पहले !''[15]

मानव जीवन और मानवेतर प्राणियों सहित अन्य सभी जैव-वैविध्यों के लिए पृथ्वी मौलिक और शाश्वत घर है। इसके समुचित और सुचारु संतुलन के अभाव में जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस पृथ्वी पर एक केंचुए का महत्व एक किसान को पता है। फसल की उपजती और लहलहाती बालियों को ज्ञात है। दरअसल नवीन शोध और कीटनाशक दवाइयाँ खेत को उर्वर बनाने की असंभव कोशिश में जुटे हैं जिसका परिणाम भावी समय में प्रकृति के असंतुलित आपदाओं के रूप में देखा जाएगा। मौसम वैज्ञानिक और भू -वैज्ञानिक लगातार नये-नये शोध के दावे प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें पृथ्वी की विनाशकलीन स्थिति को देखा जा सकता है। एक समकालीन कवि की वैचारिक उपस्थिति पृथ्वी की चिंता के अनुरूप स्वाभाविक ही प्रतीत होती है और नैतिक भी। इस दृष्टि से हर समकालीन कवि पृथ्वी का नागरिक है। दरअसल पृथ्वी की नागरिकता के अभाव में कोई कवि समकालीन हो ही नहीं सकता। कविता के समय -सापेक्ष होने का यही मूल्य है। लीलाधर जगूड़ी की एक कविता है 'इंतज़ार की जगह' जिसमें वे लिखते हैं –

समकालीन हिन्दी कविता की पेटी में जहाँ मनुष्य के जीवन से जुड़ा अनेक संघर्ष मौजूद हैं वहीं प्रकृति और पारिस्थितिकी से संबंधित असंतुलन का भी समूहगायन है। पृथ्वी पर बेहतर दुनिया कायम हो सके इसके जुगत में समकालीन हिन्दी कवियों ने नये-नये विमर्श और मंतव्यों को प्रकट किया है।

''ताज़ा खोदी हुई
मिट्टी की गंध से भरी
आस-पास मेरी वर्तमान पृथ्वी है
कोख का
सारा कोयला दहकाये हुए।''[16]

लीलाधर जगूड़ी समकालीन हिन्दी कविता के विशिष्ट कवि हैं। खनिज -संसाधन का दोहन पृथ्वी की कोख खाली करने सदृश है। कवि इस व्यथा को मुखर संकेत देता है। पृथ्वी को खोखली करती हुई मनुष्य की भावी पीढ़ी निकट भविष्य में ही उसके दुर्दांत परिणाम झेलने को तैयार रहेंगे – कवि ने इस ओर स्पष्ट संकेत दिया है। समकालीन कविता के प्रतिनिधि कवि एवं पैरोकार केदारनाथ सिंह पृथ्वी के कवि हैं। वे 'पृथ्वी रहेगी' शीर्षक कविता में लिखते हैं –

''मुझे विश्वास है
यह पृथ्वी
यदि और कहीं नहीं तो मेरी हड्डियों में
यह रहेगी जैसे पेड़ के तने में
रहते हैं दीमक
जैसे दाने में रह लेता है घुन''[17]

पृथ्वी को बेबस बनाने में केवल मनुष्य की खोजी पीढ़ी की भूमिका है। मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी वृहत स्तर पर बढ़ रही हैं कि वह संसाधनों का सीमित प्रयोग न करके उसका दोहन करती है। केदारनाथ सिंह पृथ्वी के सजग कवि हैं। उनकी पाँच कविताएँ केवल पृथ्वी के परिप्रेक्ष्य में लिखित है। पृथ्वी

बची रहनी चाहिए समकालीन कवियों का प्रचलित विमर्श है। साथ ही यह पृथ्वी केवल मनुष्यों तक सीमित नहीं है – इस ओर भी समकालीन कवियों ने बहुतेरे कविताएँ लिखी हैं। एक अन्य संग्रह में केदारनाथ सिंह 'ओ मेरी उदास पृथ्वी' शीर्षक से कविता लिखते हैं –

"गाय को चाहिए बछड़ा
बछड़े को दूध
दूध को कटोरा
कटोरे को चाँद
और मुझे ?

✦✦

ओ मेरी घूमती हुई
उदास पृथ्वी
मुझे सिर्फ़ तुम..
तुम... तुम...."[18]

यह अनायास ही नहीं होता कि किसी कवि के 'सपने में पृथ्वी'[19] आ जाए। दरअसल कवि पृथ्वी के बारे में सोच रहा होता है – उसका भूत, वर्तमान और भविष्य। जीवन के क्षुद्रतम अंश भी उनकी संवेदना को झकझोर के रख देता है। पृथ्वी को उदास पृथ्वी से संबोधित करना कवि की लाचारी है। पृथ्वी पर मनुष्य का जीवन बेहतर हो –शांति, खुशहाली और संवेदनजन्य लोग सुसभ्य बने रहें, कवि की महत्वपूर्ण चिंता है। केदारनाथ सिंह एक कवि के रूप में धरती के कवि हैं। वे विचारते हैं पृथ्वी की सहानुभूतिपूर्ण हृदय की वेदना को और कविता में प्रकृति नानारूपों की भाषा और आवाज़ बनकर प्रस्तुत करते हैं। उनकी कविताएँ इस धरती पर बड़े से बड़े और छोटे से छोटे जीव को उतना महत्व देती है जितना कि मनुष्य और मानवीय सरोकारों को। वे 'जड़ें' शीर्षक कविता में लिखते हैं –

"जड़ें चमक रही हैं
ढेले खुश
घास को पता है
चींटियों के प्रजनन का समय
करीब आ रहा है

✦✦

मटमैलापन अब भी /जूझ रहा है
कि पृथ्वी के विनाश की
खबरों के खिलाफ़
अपने होने की सारी ताकत के साथ
सटा रहे पृथ्वी से"[20]

कवि किसी प्रकार के अफ़वाह में नहीं जीना चाहता है, वह हर हाल में डट कर पृथ्वी के साथ खड़ा है। लीलाधार जगूड़ी की दृष्टि में घुमक्कड़ों की भाग्य रेखाओं में 'पृथ्वी रोती है और घूमती है'[21] कविता केदारनाथ सिंह के सदृश पृथ्वी की बेबसी को प्रकट करती है। समकालीन हिन्दी कविता के केंद्र में पृथ्वी रोती हुई घूमती है। कविता में पृथ्वी का शामिल होना जीवन के सबसे बुरे दौर से गुजरना है। पृथ्वी पर रचा-बसा जीवन तभी सुरक्षित है जब इसके सभी जीवों के अस्तित्व की रक्षा हो। मानवीय सरोकार और सद्भावना तभी विस्तृत फलक पर प्रस्फुटित हो सकता है जब मनुष्य उतना ही मानवेतर संवेद्य हो। मनुष्यता के विकास में मानव समुदाय ने पृथ्वी के अन्य जीवों और वनस्पतियों को काल के मुँह में जा धकेला है। मोबाईल से लेकर इंटरनेट टावर तक से निकल रहे तमाम शक्तिशाली और खतरनाक किरणें पक्षियों की उड़ान और अन्य जीवों के लिए घातक सिद्ध हो रहे हैं। पर्यावरण के विविध चिंतन के आयाम आए दिन समाचार-पत्रों में पढ़ने को मिल रहे हैं। विज्ञान के इस युग में केवल विकास को लक्ष्य बनाकर अंधाधुंध प्रकृति का दोहन किया जा रहा है। केदारनाथ सिंह की कविताओं में मानवेतर संवेदना से संपृक्त इन्हीं भावनाओं को पर्याप्त स्थान मिला है। उन्होंने 'बैलों का संगीत-प्रेम'[22] शीर्षक कविता में यह बताने का प्रयास किया है कि ट्रैक्टर के चलने से अब बैलों का क्या होगा ? यह ट्रैक्टर बैलों के लिए एक त्रासद जीवन लेकर आया है। किसानों का सदियों से साथी रहा है बैल जिसे ट्रैक्टर ने आसानी से कब्ज़ा जमा लिया। दरअसल केदारनाथ सिंह को पक्षियों से अधिक लगाव है। उनकी कविताओं में घास, कौआ, बरगद, कुत्ते, पानी, नदी आदि अचानक से चले आते हैं। केदारनाथ सिंह के लिए सुबह का काँव -काँव 'जीवन का उद्दाम संगीत'[23] है। केदारनाथ सिंह मूक जीवों की तरफ से बोलना चाहते हैं। वे "शहर की लाखोंलाख चींटियों की मूक रुलाई का हिन्दी में अनुवाद"[24] करना चाहते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समकालीन हिन्दी कविता की पेटी में जहाँ मनुष्य के जीवन से जुड़ा अनेक संघर्ष मौजूद हैं वहीं प्रकृति और पारिस्थितिकी से संबंधित असंतुलन का भी समूहगायन है। पृथ्वी पर बेहतर दुनिया कायम हो सके इसके जुगत में समकालीन हिन्दी कवियों ने नये-नये

विमर्श और मंतव्यों को प्रकट किया है। पृथ्वी की भौगोलिक सरंचना के

अनुसार जीवन निर्वाह हो अथवा मानवेतर प्राणियों की रक्षा के लिए कोई ठोस पहल की जाए –इस दृष्टि से कवियों की संचेतना सदा जागृत रही है। पृथ्वी और मानवेतर प्राणियों की संवेदना ही मनुष्य के जीवन को उर्वर और खुशहाल बना सकती है। मनुष्य के जीवन सहचरी के रूप में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि हैं – यह हमें नहीं भूलना चाहिए। हमारे सौर मण्डल में पृथ्वी नामक गृह पर ही एकमात्र जीवन है और मानवजाति को इसके पर्यावरणीय संतुलन का दायित्व प्राप्त है। समकालीन हिन्दी कविता ने कविता के विषयों को विस्तार दिया है। पुराने कवियों के समय में प्रकृति का मनोरम दृश्य अथवा मनोहर वर्णन देखने को मिलता है किन्तु, समकालीन हिन्दी कविता ने इस परंपरा का अतिक्रमण कर समय-सापेक्ष प्रकृति को अनुकूल वातावरण की रेखाओं से जोड़कर उसे विमर्श के केंद्र में रखी है। ये कविताएँ पाठक को पृथ्वी, पर्यावरण, मानवेतर प्राणियों की संवेदना और पारिस्थितिकी-तंत्र के प्रति निष्ठा और संरक्षण को सचेत करती हैं।

संदर्भ

1. रामदरश मिश्र, आलोचना का आधुनिक बोध, 'कविता और कविता के आसपास', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 2013, पृष्ठ – 29
2. वही, पृष्ठ – 30
3. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आलोचना के हाशिये पर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ –16
4. राजेश जोशी, एक कवि की नोटबुक, 'हाँ' का नमक और 'ना' का लोहा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2004, पृष्ठ – 87
5. वही, पृष्ठ – 89
6. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, आलोचना के हाशिये पर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2008, पृष्ठ – 9 &10
7. लीलधड़ जगूड़ी, अनुभव के आकाश में चाँद, 'इतिहास से भी पहले' कविता राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2021 5 वाँ सं., पृष्ठ सं.-11
8. मदन कश्यप, लेकिन उदास है पृथ्वी, 'चिड़ियों का क्या' कविता, सेतु प्रकाशन, दिल्ली 2019 सं. पृष्ठ सं.-65
9. उदय प्रकाश .2020 तृतीय सं., अबूतर-कबूतर, 'दो हाथियों की लड़ाई' कविता, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-75
10. लीलधड़ जगूड़ी, अनुभव के आकाश में चाँद, 'हम नहीं' कविता राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2021, 5 वाँ सं., पृष्ठ सं.-110
11. विनोद कुमार शुक्ल, सब कुछ होना बचा रहेगा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992, पृष्ठ सं.-39
12. अशोक वाजपेयी, तत्पुरुष, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2014 सं., पृष्ठ सं.-67
13. डबराल, मंगलेश, (2001सं.), घर का रास्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं.-17
14. ज्ञानेंद्रपति, कविता भविता, सेतु प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली, 2020, पृष्ठ सं.- 113
15. ज्ञानेन्द्रपति, (2004), संशयात्मा, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली पृष्ठ सं.- 138
16. जगूड़ी, लीलाधर, (2003आवृत्ति), बची हुई पृथ्वी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-26
17. सिंह, केदारनाथ.1999 (चतुर्थ आवृत्ति), यहाँ से देखो, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ सं.- 25
18. सिंह केदारनाथ, (2021, 8वाँ सं.), अकाल में सारस, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ सं.-26
19. सिंह, केदारनाथ, (2019 4था सं.), उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ सं.-37
20. वही, पृष्ठ सं.-110
21. जगूड़ी, लीलाधर, 1999, ईश्वर की अध्यक्षता में, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., पृष्ठ सं.-122
22. सिंह, केदारनाथ, 2019, आँसू का वजन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-34
23. वही, पृष्ठ सं.-50
24. सिंह, केदारनाथ, 2019 (3सरा सं.), ताल्सताय और साइकिल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं.-91

1. संकायाध्यक्ष, साहित्य संकाय, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, पूर्व महासचिव, विश्व हिन्दी सचिवालय, मॉरिशस

2. शोधार्थी, हिन्दी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय

1857 की क्रांति और भारतीय साहित्य

— प्रो. पवन कुमार शर्मा, प्रो. गौरव सिंह

प्रायः यह माना जाता है कि 1857 की क्रान्ति में सैनिको की भूमिका का ही प्राधान्य था; यह उचित नहीं है। क्योंकि, 1857 की क्रान्ति में जहाँ एक ओर सैन्य वर्ग अपनी भूमिका सुनिश्चित कर रहा था वहीं दूसरी ओर साहित्यकार और सन्यासी भी अपनी भूमिकाओं को अपने-अपने स्थान पर स्वयं की परम्पराओं के साथ जोड़कर निर्धारित कर रहे थे। इसलिए 1857 की क्रांति की पहल का सम्बंध 1772 के सन्यासी आंदोलन तक जाता है, क्योंकि यह आंदोलन अंग्रेजों की कुत्सित नीतियों के (1768 में बंगाल में भी अकाल पड़ा था, इसके बावजूद भी अंग्रेजों ने बहुत ही निर्ममता से न केवल मालगुजारी वसूली बल्कि यह अन्य वर्षों की मालगुजारी से अधिक भी थी) क्रियान्वयन के तत्काल बाद प्रारम्भ हो गया था और पूरे 10 वर्षों (1772-1782) तक चला था, इस आन्दोलन ने अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिए थे। तत्कालीन-गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स को सन्यासियों को बंगाल की सीमा से बाहर करने में अपनी पूरी ताकत लगानी पड़ी थी तब कहीं जाकर यह आंदोलन शांत हुआ था।[1] 1857 के आंदोलन या क्रांति की शुरुआत भी दशनामी सन्यासियों की प्रेरणा से ही हुई थी और यह सूचना तत्कालीन ग्वालियर के महाराजा सिंधिया की दादी बैजा बाई ने महाकाल की नगरी उज्जैन में नाना साहब को दी थी कि भारत के स्वातंत्र्य के लिए 1856 में ऋषिकेश में सन्यासियों के द्वारा कुछ रणनीति बनाई जा रही है और तुम उसमें सहयोग करो।[2] बाद में, नाना साहब अपने सहयोगी अजीमुल्ला खान के साथ इन सन्यासियों के सम्मेलन में उनसे जाकर मिले भी थे और फिर सारी कार्यवाही सन्यासियों की इच्छा अनुसार ही संचालित हुई थी।[3] इनमें से ही एक सन्यासी, जिनका नाम स्वामी विरजानन्द जी था जिन्होंने, बाद में मूलशंकर को दीक्षित करके स्वामी दयानंद सरस्वती बनाया, भी थे। जिन्होंने लंबे समय तक अलवर के महाराजा विनय सिंह को न केवल संस्कृत सिखाई थी अपितु उनके माध्यम से राजस्थान के अन्य राज घरानों से सम्बन्ध भी स्थापित किया था[4] और इन रियासतों का उपयोग स्वामीजी के द्वारा अनेक प्रकार से 1857 की क्रांति और उसके बाद में भी किया गया था। वस्तुतः1857 की क्रांति सन्यासियों के मार्गदर्शन में लड़ा जाने वाला एक लंबा युद्ध था जोकि भारत की संस्कृति और आर्थिक अवस्था को, या यों कहें तो अधिक उचित होगा कि यह स्वधर्म, स्वदेशी और स्वशासन को दृष्टिगत रखकर लड़ा गया था।

इन दोनों मुद्दों को ध्यान में रखकर ही इस क्रांति का प्रतीक चिह्न रोटी और कमल का फूल थे। इनमें कमल का फूल सांस्कृतिक सुशासन और रोटी आर्थिक दशा से सम्बंधित थी। यों तो यह क्रांति समय पूर्व (10मई) प्रारम्भ हो जाने के कारण अपने अभीष्ट को प्राप्त न कर सकी थी किन्तु इस क्रांति ने समाज में नव चैतन्य का संचार कर दिया था। जिसके कारण, समाज के प्रत्येक वर्ग में अंग्रेजों के प्रति वितृष्णा का भाव जागृत हो गया था और उसी के वशीभूत सभी भाषाओं में अनेक प्रकार से अंग्रेजों के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना से सम्बंधित साहित्य सृजित होने लगा था। यह साहित्य तो अंग्रेजों के व्यापारी से शासक बनने के बाद से ही स्थान-स्थान पर रचा जाने लगा था और इस साहित्य ने स्थानीय स्तर पर समाज और शासकों को उद्वेलित भी किया था। यों तो, यह साहित्य स्थानीय स्तर के स्वतंत्र

कवियों द्वारा रचा गया था, किंतु इसके केंद्र में राष्ट्रीय चेतना थी, जोकि उन इतिहासकारों के लिए एक सबक है जो यह कहते नहीं थकते कि भारत में राष्ट्रीय चेतना का ज्वार तो कॉंग्रेस के अभ्युदय के बाद ही आया। आश्चर्य! उनमें से एक राष्ट्रपिता महात्मा गांधी स्वयं भी थे।[5] इस आलेख का मुख्य हेतु उसी साहित्य को अध्येताओं के मध्य प्रस्तुत करना है जिससे वे साहित्य की भूमिका से परिचित हो सकें। साहित्यकारों की यह भूमिका 19 वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों से ही प्रारंभ हो जाती है और फिर इसका सतत् प्रवाह स्वातन्त्र्य प्राप्ति तक चलता रहता है।

साहित्य के अनुशीलन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि न तो भारतीयों ने अंग्रेजों की पराधीनता स्वीकार की थी और न ही भारत पूर्ण रूप से अंग्रेजों के आधिपत्य में चला गया था। उपरिलिखित 1772 का सन्यासी आंदोलन और 1853 में ब्रिटिश पार्लियामेंटरी कमीशन के सम्मुख चार्ल्स ट्रेवलीन का वक्तव्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि 1757 के बाद से ही भारतीय जनमानस अंग्रेजों को भारत से भगाने के लिए सक्रिय हो गया था। तभी तो वह कमीशन के सम्मुख दिए गए अपने वक्तव्य में कहता है कि मैंने 12 वर्ष भारत में व्यतीत किए हैं, 6 वर्ष कलकत्ता में और 6 वर्ष दिल्ली में किन्तु कलकत्ता के लोग आधुनिक शिक्षा के सम्पर्क में आने के कारण क्रांति के स्थान पर प्रतिवेदन आदि से अपनी बात कहते हैं; जबकि, दिल्ली के लोग बात-बात पर लड़ाई झगड़े और क्रांति की बात करते हैं। इसलिए यथा शीघ्र ब्रिटिश एजुकेशन लागू करनी चाहिये।[6] इसके अतिरिक्त कुछ साहित्य जोकि लिखित और मौखिक परम्परा में विद्यमान था। यथा : 1803 में सुप्रसिद्ध कवि पद्माकर का लिखा गया कवित्त जो उन्होंने ग्वालियर के महाराजा दौलतराजे सिंधिया के सम्मुख अंग्रेजों के विरुद्ध चेतावनी स्वरूप पढ़ा था।

बांका नृप दौलत अली जा महाराज कबौ
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावेगों।
दिल्ली दहपट्टी, पटना हु को झपट्ट करि,
कबहुँक लत्ता कलकत्ता के उड़ावैगो।
मीनागढ़ बम्बई सुमंद मंदराज बंग,
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगौ ।
कहै पदमाकर कसकि कासमीर हू को,
पिंजर सों घेरि को कलिंजर छुडावैगौ ।[7]

इस कवित्त में अंग्रेजों के विस्तार की बात कह कर सिंधिया के पौरुष को ललकारा जा रहा है। एक कवि इसके अतिरिक्त और कर भी क्या सकता है।

> ***1857 की क्रांति सन्यासियों के मार्गदर्शन में लड़ा जाने वाला एक लंबा युद्ध था जोकि भारत की संस्कृति और आर्थिक अवस्था को, या यों कहें तो अधिक उचित होगा कि यह स्वधर्म, स्वदेशी और स्वशासन को दृष्टिगत रखकर लड़ा गया था।***

हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि इसके बाद ही 1803-05 में मराठा और अंग्रेजों का युद्ध हुआ था। इस प्रकार से समाज के मानस को समझ सकते हैं कि उसने अंग्रेजो के आधिपत्य को अन्तस् से स्वीकार नहीं किया था। 1803-05 के युद्ध में कुछ विसंगतियों के चलते अंग्रेजों को भारत से खदेड़ा न जा सका। मराठा राजा होल्कर भरतपुर के राजा रणजीत सिंह के यहां रहे और अंग्रेजों से संधि के बाद भी भरतपुर नरेश ने होल्कर को अंग्रेजों को देने से स्पष्टतः मना कर दिया था।[8] क्योंकि वह राष्ट्रीय चेतना के ज्वार से परिचित थे। होल्कर को प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों ने भरतपुर पर भी हमला किया और कवि ने भरतपुर की महिमा में तुरंत कवित्त रचा जोकि इस प्रकार है-

आछो गोरा हट जा।
राज भरतपुर को रै गोरा हट जा।
भरतपुर गढ़ बाँको, किलो रै बाँको
गोरा हट जा।[9]

यहां यह बात ध्यान देने की है कि भरतपुर, अलवर, धौलपुर आदि राजस्थान के क्षेत्रों में ब्रजभाषा का ही प्रभाव है और बोली भी वही जाती है, फिर भी कवि, कवित्त राजस्थानी में लिख और बांच रहा है। इससे उसकी कूटनीतिक चेतना का भी भान होता है। भरतपुर पर आक्रमण के लिए अंग्रेजों को ब्रज क्षेत्र पार करना ही पड़ा होगा, तब भरतपुर तक पहुंचे होंगे। अब ब्रज भाषा में काव्य रचकर कुछ नहीं हो सकता था। अब तो विकल्प राजस्थानी चेतना को जागृत करके राष्ट्रीय अस्मिता

की रक्षा करनी थी, जो कवि ने की भी। इन जातीय चेतना की कविताओं में, जिनमें राष्ट्रीय भाव कूट-कूट कर भरा था, को सहज ही समझा जा सकता है। उपनिवेशी इतिहासकारों ने वर्षो-वर्ष भारत के साथ विश्वासघाती भूमिका निभाई है, क्योंकि उन्होंने संख्या में कम अंग्रेजों को भी भारत पर शासन करते और युद्ध जीतते दिखा कर उनको वीर और हमारे रणबांकुरों को कमतर आंका है जिससे भारत की युवा शक्ति पीढ़ी दर पीढ़ी आत्मविश्वास विहीन बनती रही है। जबकि वास्तविकता इसके बिल्कुल विपरीत रही है। नीचे की पंक्तियों से इसे सहज ही समझ सकते हैं –

आठ फिरंगी नौ गोरा,
लड़ै जाट के दो छोरा।[10]

तर्कशास्त्रियों के लिए यह अतिश्योक्ति हो सकती है किंतु यह भारतीय जनमानस की अभिव्यक्ति है कि वह हारने को और उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं है तथा पूर्ण राष्ट्रीय चेतना के भाव से उसे जनमानस में फैलाने को क्रियाशील है। ऊपर के दोनों सन्दर्भों के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि अग्रेंजों के सम्मुख न तो ग्वालियर का राजा कमतर है और न ही भरतपुर का। कवि उनके सामर्थ्य से परिचित हैं तभी तो उनके पुरुषार्थ को ललकारते हैं और उसी पुरुषार्थ के भय का उल्लेख कार्ल मार्क्स ने अपने भारत सम्बन्धी निबन्धों में किया है।

राजस्थान के एक बहुत ही लोकप्रिय कवि 19वीं सदी में हुए, उनका नाम था बाँकीदास, इनका उल्लेख डॉ रामविलास शर्मा जी ने अपने लेखन में बहुत ही प्रमुखता से किया है। बाँकीदास जी बहुत ही चिंतनशील और गुणी व्यक्तित्व थे, भारत के इतिहास, भूगोल और एकात्मता का भी इन्हें खूब ध्यान था, तभी तो राजस्थानी में काव्य रचने के बाद श्रीलंका तक भारत का विस्तार कर उसे उल्लिखित कर रहे हैं। ये रचनाएं उन बुद्धिजीवियों के लिए एक आईना हैं जो यह कहते नहीं थकते कि 1857 से अंग्रेज तो नहीं भागे किन्तु उन्होंने भारत को एक देश के रूप में अवश्य संगठित होने को प्रेरित कर दिया। बाँकीदास जी का निधन 1833 में हो गया था और जिस कविता में ये पूरे भरतखण्ड का वर्णन कर रहे हैं वह निश्चित ही उससे पूर्व की है। वे लिखते हैं–

उतन विलायत किलकता
कानपुर आविया,
ममोई लंक मदरास मेला।
यलम धुर वहन अंग्रेज वाटन थला,
भरतपुर ऊपर हुवा मेला।
सैन रिजमेंट असंख पलटनां तने संग भड तिलंग बंग किलंग तना भिलिया अभंग जंग भरतखण्ड पारका ऊसर ऊंवे मारकआ वजन्द्र रै दुरंग मिलिया।[11]

कवि लिखता है कि विलायत से अंग्रेज अपने इल्म (चतुराई) के बल पर कलकत्ता, कानपुर, मुंबई, मद्रास, लंका होते हुए अब भरतपुर पर चढ़ आया है और उसने जो सेना जोड़ी है वह इसी देश के प्रदेशों के लोगों की है तथा ये जो प्रदेश हैं वे सब भरतखण्ड नामक देश में है। इस कवित्त से राष्ट्रीय चेतना का ज्वार स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। अंग्रेज न तो सर्वत्र विजयी हो रहे थे और न ही पूरे भारत को उन्होंने जीत लिया था। क्योंकि आगे जो पंक्तियां कवि लिख रहा है वह अंग्रेजों की कमतरी की पुष्टि करती हैं।वे लिखते हैं -

थया बलहीन लश्कर फ़िरंगथनां
चीन इनांन् रा यलम चलिया।[12]

भारत आकर फिरंगियों का लश्कर यानि सेना बलहीन हो गई और उसने चीन और यूनान से जो चतुराई सीखी थी वह भारत आकर बेकार हो गई।

इतना ही नहीं बाँकीदास जी राजपूतों के अंग्रेजों से लड़े बिना अंग्रेजों को धरती सौंपने के भी विरुद्ध थे। तभी तो वे अपनी कविता के माध्यम से रजवाड़ों को नाम ले ले कर ललकारते हैं।

आयो इंग्रेज मुलक रै ऊपर,
आहस लीधा खींची उरा।
धनिया मरै **न** दीधी
धरती, धनिया ऊभो गई धरा।
पुर जोधान, उदैपुर, जैपुर,
यह थारा खूटा परियां।
आंके गई आवसी आंके,
बांके आसल किया बखान।[13]

कवि अभी राजाओं के व्यवहार से हताश है किंतु भविष्य को चेता रहा है और उसे विश्वास है कि राष्ट्र की चेतन शक्ति स्वयं अपना मार्ग तलाश लेगी। इस प्रकार 1757 के बाद 1857 तक राष्ट्र की चेतन शक्ति ही किसी न किसी रूप में न केवल राष्ट्र को जीवित रखे रही बल्कि उसे स्वतंत्रता के लिए प्रेरित भी करती

रही। किन्तु उपनिवेशी इतिहासकारों को राष्ट्र की यह चेतन शक्ति और उसकी एकात्मता नहीं दिखती, उन्हें दिखता है तो मात्र द्वंद। वे ये भूल जाते हैं कि द्वंद कृत्रिम है और चेतनता सनातन। द्वंद को गतिशील बनाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है जबकि सनातन जैविक होने के कारण स्वयं विकसित या अद्यतन होती है। अस्तु।

1857 से पूर्व 1834 में शेखावाटी के डूंगरसिंह के नेतृत्व में सैनिकों ने विद्रोह किया था और अंग्रेजों ने उसे पकड़ कर आगरा के किले में कैद कर लिया था, और जिसे जवाहर सिंह के नेतृत्व में सैनिकों ने उसे छुड़ा लिया था तथा मार्ग में पड़ने वाली नसीराबाद की छावनी पर आक्रमण करके खजाने को अपने अधिकार में ले लिया था।[14] इस प्रकार से राजस्थान में चारों ओर अंग्रेजों के विरुद्ध वातावरण बन चुका था। बाद में स्वामी विरजानन्द जी ने भरतपुर को अपना केंद्र बनाकर यहां के रजवाड़ों और जनता को उद्वेलित कर दिया था। राजस्थान में होने वाली घटनाएं 1857 की क्रांति की पूर्व पीठिका थीं और सबसे अधिक ध्यान देने वाली बात है भारत की संस्कृति और एकात्मता का उल्लेख। कवि राजस्थान के लोगों को संगठित करने के लिए काव्य रच रहा है लेकिन स्वातंत्र्य भारत या हिन्द का चाहता है क्योंकि वह जानता है कि अंग्रेज विधर्मी हैं यदि उसका शासन भारत के किसी भी राज्य पर है तो वह भारत के स्वातंत्र्य के लिए खतरा है। सबसे रोचक बात यह है कि ये कवि चारण परम्परा के कवि नहीं थे, ये स्वतंत्र काव्यों के रचयिता थे जिनके लिए राष्ट्र सर्वोपरि था। यह अलग विषय है कि इनके काव्य से प्रभावित होकर राजे-रजवाडे इन्हें उपाधियों और पुरूस्कारों से विभूषित करते रहते थे।

1857 की क्रांति के पूर्व भी भारत में अंग्रेजों को देश से निकालने के प्रयत्न होते रहे थे। 1772 से प्रारम्भ होकर 1782 तक का बंगाल का सन्यासी आंदोलन, 1803-05 का अंग्रेज और मराठों का युद्ध, इस युद्ध के पहले ही 1803 में कवि पद्माकर ने सिंधिया के दरबार में आकर ही उनके पुरुषार्थ को ललकारा था। फिर इसके बाद राजस्थान की पुरुषार्थी परम्परा प्रारम्भ हुई जिसने अंग्रेजों को नाकों चने चबवाए। ऐसी ही वीरतापूर्ण बातों का उल्लेख ब्रिटिश इतिहासकार विलबरफोर्स बेल अपनी सुप्रसिद्ध कृति

1757 और 1885 के मध्य मातृ भाषाओं में सृजित साहित्य को विस्तार से पढ़ें तो उन्हें यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में स्वातंत्र्य का ज्वार कॉंग्रेस की स्थापना से कहीं पहले से ही बह रहा था बल्कि कॉंग्रेस ने तो स्थापित होकर उसकी गति को और धीमा ही किया। इसलिए स्वातंत्र्य प्राप्ति में विलंब हुआ।

हिस्ट्री ऑफ काठियावाड़ में करते हैं कि किस प्रकार से बघेरो ने अंग्रेजों को अपनी वीरता से दिन में ही तारे दिखा दिए थे किंतु अपने किले पर अंग्रेजों को अधिकार नहीं दिया था। बघेरो ने अंग्रेजों से1802 से लेकर 1865 तक कई बार युद्ध किया था किंतु अंग्रेज इन पर पार न पा सके थे। इनकी वीरता के गीत वहां के लोक मानस में गहरे तक रच बस गए थे। इन गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद किनकेड नामक अंग्रेज ने किया था जो कि हिंदी में कुछ यूं है-

मराठा हमला कर सकता है
उठते ज्वार की तरह,
डरता नहीं है, बहुत
लड़ाइयां लड़ चुका है।
घारी दूर है पर घारी में
वे उससे थर्राते हैं,
और सुदूर कोडिनार में
वे उसके नाम से कांपते हैं।
धरती का स्वामी भले
सिंहासन पर बैठा हो,
पर वह उसका सारा कोष,
सारे नगर अपने मानकर हड़प लेता है।
और उनकी अकड़ ढीली पड़ जाती है,
मूंछे नीची हो जाती हैं,
जब वे मानिक का शानदार
झंडा लहराते देखते हैं।
हर काठी आराम से दावत के
इंतज़ार में बैठा है।
आते हैं मुलु आराम-आराम से
उनकी दावत उड़ा जाते हैं।
वे बदला लेने के मंसूबे गांठते हैं।
बहादुर मुलु को भला इसकी

क्या परवाह है।
नाम सुनते हैं तो राजा उनके आगे
नाक रगड़ते हैं।
राजपूत और काठी दोनों को ही
उनसे डर है।
और गोरा आदमी उनका नाम
सुन कर चट्ट सफेद पड़ जाता है।[15]

इस प्रकार बघेरो ने अंग्रेजों को लंबे समय तक अपने युद्धों में घेरे रखा। 1857 के बाद भी ये युद्ध चले हैं और स्वामी दयानंद सरस्वती की भी भूमिका इनको प्रेरित करने में रही है।[16] इन सबके भी प्रमाण बहुतायत में मिलते हैं और इन प्रमाणों के ही आधार पर भारतीय स्वातंत्र्य आंदोलन के मूल्यांकन की आवश्यकता है; कि कौन सा विचार, आंदोलन या कार्यक्रम कब सक्रिय हुआ? प्रायः यह बताया जाता है कि भारत में राष्ट्रीयता की अलख जगाने और राजनीतिक चेतना जागृत करने में कॉंग्रेस की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है। यदि कॉंग्रेस की स्थापना 1885 में न हुई होती तो भारत वर्षों वर्ष स्वातंत्र्य का मुंह न देख पाता। अतएव हमें तो अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए। जो ऐसा कहते हैं वे 1757 और 1885 के मध्य मातृ भाषाओं में सृजित साहित्य को विस्तार से पढ़ें तो उन्हें यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में स्वातंत्र्य का ज्वार कॉंग्रेस की स्थापना से कहीं पहले से ही बह रहा था बल्कि कॉंग्रेस ने तो स्थापित होकर उसकी गति को और धीमा ही किया। इसलिए स्वातंत्र्य प्राप्ति में विलंब हुआ। भारतीय चेतना की समझ को इस बात से आसानी से समझा जा सकता है कि वे न केवल अंग्रेजों को देश से बाहर करना चाहते थे वरन वे उनके द्वारा जो देशी उद्योगों को उजाड़ दिया गया था की पुनः स्थापना भी चाहते थे। क्योंकि बिना आर्थिक स्वावलम्बन के भारत अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त न कर सकता था और वह थी स्वदेशी उत्पादन प्रणाली। इसके लिए भी नानाविध उपक्रम किए जाते थे। इनमें से कुछ साहित्यिक पत्रिकाओं में छपे थे और कुछ ऐसे ही हस्त पत्रक के रूप में। इनमें से एक हस्त पत्रक 1857 में आजमगढ़ के क्रांतिकारियों ने छापा था जिसमें लिखा था "आप लोग यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि दगाबाज अंग्रेजों ने नील, अफीम, कपड़े वगैरह जैसी मुनाफा देने वाली चीजों का बाजार अपने हाथ में कर रखा है और कम मुनाफे का व्यापार उन्होंने आपके लिए छोड़ दिया है और आपको जब उनकी अदालतों में जाना पड़ता है तब स्टाम्प पेपर और कोर्ट फीस के लिए आपको भारी रकमें चुकानी होती हैं। इसके अलावा वे पोस्टेज और स्कूल फंड के रूप में जनता से पैसा वसूल करते हैं और जमींदारों की तरह उनकी अदालतों में बुलाए जाने पर नीचा देखना पड़ता है और किसी भी ऐरे-गैरे के कहने पर आपको जेल भी हो जाती है या जुर्माना देना पड़ता है।"[17] यह पत्रक आगे फिर सावधान करता हुआ लिखता है कि "यूरोपियन लोग हर तरह की चीजें यूरोप से मंगाते हैं और इस तरह बहुत थोड़ा रोजगार आपके हाथ में रह जाता है।"[18] इस प्रकार से क्रांतिकारी धर्म, अर्थ आदि के आधार पर भी जनता को संगठित कर रहे थे और अंग्रेजों के विरुद्ध मजबूती से खड़े हुए थे। स्वदेशी की महत्ता 1905 -6 से पूर्व ही देश समाज पहचान चुका था यह कोई कॉंग्रेस के द्वारा प्रारम्भ किया हुआ आंदोलन मात्र नहीं था। इसी प्रकार का एक इश्तहार 1857 में दिल्ली में, जो सेनाएं सब ओर से आकर एकत्रित हुए थीं, जोकि लगभग 90 हजार से भी अधिक थीं, ने भी प्रकाशित करके वितरित किया था, जिसमें की भारत की दुर्दशा, जोकि अंग्रेजों ने की थी, के विषय में लिखा गया था। इसमें अंग्रेजों ने टैक्स में जो कई गुना वृद्धि की थी, चुंगी में जो वृद्धि की थी और उद्योग धंधों को उजाड़ कर भारत की अर्थ व्यवस्था को चौपट कर दिया था, के सम्बन्ध में विस्तार से उल्लेख किया गया था तथा हिन्दू और मुस्लिमों के धर्म सम्बन्धी समस्याओं को भी गम्भीरता से सामने लाया गया था।[19] इस प्रकार से भारत की अर्थव्यवस्था और सामाजिकता को छिन्न-भिन्न करने वाले अंग्रेजों के कुत्सित प्रयासों से क्रांतिकारी न केवल परिचित थे बल्कि वे जन साधारण को भी परिचित करा रहे थे। इसके अतिरिक्त लोकगीतों की भूमिका भी स्वदेशी के संदर्भ में बहुत महत्वपूर्ण रही है। इस प्रकार के लोकगीत 1857 से पहले भी और बाद में भी प्रचलन में रहे थे जोकि भारत की दुर्दशा से सम्बंधित देशी राजाओं और अंग्रेजों पर कटाक्ष करते हैं। यथा-

दुश्मन देसां लूट कर,
ले ज्यावै परदेस।

राजन चूडल्या पहर ल्यो,
धरो जनानो भेस।[20]

कवि वस्तुतः राजाओं के पुरुषत्व को ललकार रहा है और देश की आर्थिक लूट से व्यथित है। इसी बात को व्यंग्य रूप में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कुछ यों कहा है :-

भीतर भीतर सब रस चूसै।
हँसि हँसि कै तन मन धन मूसै।।
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन, नहिं अंग्रेज।।[21]

ये गीत उस समय लोक में प्रचलित थे और देश-दशा और अंग्रेजों की कुत्सित मानसिकता का परिचय देते थे। ये सब बातें अंग्रेजों के विरुद्ध वातावरण का निर्माण करती थीं। इन्हीं सब को रोकने के लिए बहुत युक्तिपूर्वक 1885 में कॉंग्रेस का अभ्युदय हुआ। इन लोकगीतों के महत्व को समझकर ही मई 1879 (अभी कॉंग्रेस नहीं बनी थी) की कविवचन सुधा भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की थी और उसमें लिखा कि "इसके हेतु मैने यह सोचा कि जातीय संगीत की छोटी-छोटी पुस्तकें बनें और वे सारे देश, गाँव-गाँव में साधारण लोगों में प्रचार की जाएं। यह सब लोग जानते हैं कि जो बात साधारण लोगों में फैलेगी उसी का प्रसार सार्वदेशिक होगा और यह भी विदित है की जितना शीघ्र ग्रामगीत फैलते हैं और जितना काव्य को संगीत द्वारा सुनकर चित्त पर प्रभाव होता है, उतना साधारण शिक्षा से नहीं होता।"[22] यहाँ पर यह बात बहुत महत्वपूर्ण है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र बात तो लोकगीतों की कर रहे हैं किंतु लक्ष्य पूरा भारतवर्ष है। तभी तो सार्वदेशिक प्रसार की बात कर रहे हैं। स्वातंत्र्य काल में और उससे पहले की साहित्यिक कृतियों में संपूर्ण भारत का ही उल्लेख सब स्थानों पर हुआ है। यहां पर भी यही हो रहा है। वे इसी विज्ञप्ति में आगे लिखते हैं कि "सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हो।"[23] और आगे वे सभी से इस राष्ट्रीय कार्य में संलग्न होने का आवाहन करते हुए लिखते हैं कि "उत्साही लोग इसमें जो बनाने की शक्ति रखते हैं वे बनावें, जो छपवाने की शक्ति रखते हैं छपवा दें और जो प्रचार की शक्ति रखते हैं वे प्रचार करें।"[24] लोकगीतों के विषय के रूप में उन्होंने स्वदेश और स्वदेशी को केंद्र में रखा था। भारतेंदुजी में राष्ट्रभक्ति कूट-कूट कर भरी थी। वे देशकाल परिस्थितियों से भली भांति परिचित थे और इसी भाव के वशीभूत होकर उन्होंने 'अंधेर नगरी-चौपट राजा', भारत दुर्दशा जैसी कालजयी रचना प्रस्तुत कीं, जो आज भी जन मानस के हृदय को उद्वेलित कर देती हैं। कविवचन सुधा में उन्होंने समय-समय पर अनेक लेख और विज्ञप्तियों का प्रकाशन कर जन मानस को स्वातंत्र्य और स्वदेशी के लिए संगठित किया। ऐसा ही एक लेख उन्होंने मार्च 1874 की कविवचन सुधा में लिखा कि कपड़ा बनाने वाले", सूत निकालने वाले, खेती करने वाले आदि सब भीख मांगते हैं -खेती करने वालों की यह दशा है कि लँगोटी लगाकर हाथ में तूम्बा ले भीख मांगते हैं, और वे जो निरुधम हैं उनको तो अन्न की भ्रांति है।"[25] यह हाल अंग्रेजों ने उस भारत का पिछले लगभग सवा सौ वर्षों में कर दिया था जोकि अंग्रेजों के आने के पूर्व यानी 18 वीं सदी तक वैश्विक बाजार में 25 से 28 प्रतिशत भागीदार था।[26] कार्ल मार्क्स भारत के कौशल और कृषि को ही भारत की समृद्धि का आधार मानते थे[27] किंतु अंग्रेजों ने इंग्लैंड के विकास के लिए भारत को चौपट कर दिया। तत्कालीन समाज यह सब जानता समझता था और उसी की अभिव्यक्ति साहित्य और साहित्यकारों के द्वारा हो रही थी; जिसमें ये लोग समाज के धनिक वर्ग से आगे आकर उद्योगों के लगाने का आह्वान कर रहे थे। वस्तुतः ये यथार्थवादी लोग थे जो भलीभांति समझ रहे थे कि अब पहले की भांति हाथ के करघों से कपड़ा बुनकर विश्व बाजार पर आधिपत्य नहीं जमाया जा सकता जैसे कि अंग्रेजों के आने के पूर्व तक था। अब यदि अंग्रेजों को पीछे करना है तो उनके ही तौर तरीकों से लड़ना होगा। इसलिए वे 9 मार्च 1874 की कविवचन सुधा में लिखते हैं कि " इसलिए अब जो विद्वान और विचारी मनुष्य हों उनको उचित है कि अपने द्रव्य की वृद्धि के निमित्त जितने भाप के यंत्र मँगावें और यहां भी धातु आदि खान कई हैं उनका शोध करें।"[28] इस शोध के माध्यम से आधुनिक उत्पादन इकाइयों की स्थापना का आह्वान वे कर रहे थे और इसके लिए वे सभी को प्रतिज्ञाबद्ध करते जाते थे। इसके लिए उन्होंने

एक प्रतिज्ञापत्र 23 मार्च 1874 की कविवचन सुधा में छपवाया था कि "हम लोग आज के दिन से कोई विलायती कपड़ा न पहिनेंगे"[29] आगे फिर वे 8 जून 1874 की कविवचन सुधा में देश के पुरुषार्थ को ललकारते हुए लिखते हैं कि "भाइयों!, देखो भारतवर्ष का धन जिसमें जाने न पावे वह उपाय करो।"[30] भारतेंदु हरिश्चंद्र साहित्यकार थे लेकिन परम्परा से यह ज्ञान था कि धन की आवक, उत्पादन और उसकी बिक्री से होती है किंतु अंग्रेज इसी को नष्ट करके इंग्लैंड में निर्मित समान से भारत के बाजारों को पाट रहे थे जिससे रोजगार कम हो रहा था और पूंजी का ह्रास हो रहा था। यह भारत और भारतीयों के हित में नहीं है इसलिए उन्होंने दो कार्यक्रम भारतीयों के सम्मुख रखे एक रचनात्मक यानि उद्योग लगाकर धन की जावक रोको, दूसरा आंदोलनात्मक अर्थात विदेशी उत्पादनों का बहिष्कार करो। इस प्रकार स्वदेश, स्वदेशी और स्वाभिमान सम्बन्धी भावना देश -समाज में कोई कॉंग्रेस की देन नहीं थी यह पहले से चली आने वाली परंपरा थी जिसको कि उपनिवेशी इतिहासकारों ने 1885 से प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया और कॉंग्रेस से इतर भी अन्य वर्गों का योगदान देश के स्वातंत्र्य में था, को दृष्टिओझल कर दिया।

19वीं सदी बहुत ही उथल-पुथल भरी थी क्योंकि उपनिवेशी समृद्धि से यूरोप में आर्थिक क्रांति अपने चरम पर थी और उसके चलते अनेकानेक विचार क्रांतियों ने भी जन्म लेना प्रारम्भ कर दिया था। भारत में भी पाश्चात्य शिक्षा का प्रचार नित नए सोपानों को पार कर रहा था और चरम पर था। भारतीय स्वातंत्र्य के यज्ञ में नाना प्रकार से सहभाग करने वाले नेता गण भी जहां पाश्चात्य शिक्षा से प्रभावित होकर उसके सिद्धांतों को स्वीकार कर रहे थे वहीं दूसरी ओर साहित्य पर भी उसकी छाप को स्पष्टतः देखा जा सकता था। पाश्चात्य शिक्षा और भारतीय भावभूमि के वशीभूत अनेक साहित्यिक कृतियां रची जा रहीं थीं, उनमें से ही एक थी आनन्द मठ, जोकि बंकिमचन्द्र चटर्जी के द्वारा रची गई थी और स्वातंत्र्य समर का कालजयी गीत वन्देमातरम इसी की देन है। यों तो यह 1882 में लिखी गई थी और इसकी भाषा बांग्ला थी किन्तु इसका कथानक था 1772 का बंगाल का सन्यासी आंदोलन, जिसने तत्कालीन ब्रिटिश सरकार को हिलाकर रख दिया था। इस उपन्यास ने पहली बार लौकिक रूप से इस भूमि के साथ माता-पुत्र के सम्बन्धों की स्थापना करके भारतमाता की स्तुति के माध्यम से इसकी समृद्धि का वर्णन वन्देमातरम गीत के माध्यम से किया था। पहले इस माता का शोषण मुस्लिम आक्रांताओं ने किया और बाद में अंग्रेजों ने। इस प्रकार से यह उपन्यास भी स्वातंत्र्य समर में प्रेरित करने वाले साहित्य में मील का पत्थर सिद्ध हुआ।[31]

आनन्दमठ उपन्यास से ही प्रेरित एक और उपन्यास 1857 के समर को केंद्र में रखकर लिखा गया था। उसको जे० एफ० फॉनथोर्न नाम के व्यक्ति ने 1892 में *'मरियम : ए म्यूटिनी 1857'* के नाम से फ्रेंच में लिखा था जो बाद में अंग्रेजी में अनुवादित हुआ। यह उपन्यास भी 1857 के क्रान्ति में सन्यासियों के योगदान को रेखांकित करता है और इसके देश व्यापी स्वरूप को उजागर करता है। इस उपन्यास से सम्बंधित सामग्री के सूत्र मैसूर ज्यूडिशियल कमीशन तक जाते हैं और सन्यासियों की आनन्दमठ सरीखी चिंता को उजागर करते हैं। इस प्रकार से इसकी विषय वस्तु जो कि देशज है, किंतु भाषा अंग्रेजी होने के कारण यह बहुत अधिक चर्चित न हो सका तथा लेखक भी विदेशी होने के कारण भारत की भावभूमि के साथ स्वयं को सन्नद्ध करने में सफल न हो सका। किंतु इसके स्वातंत्रिक अवदान को कमतर नहीं किया जा सकता है।[32]

इतना ही नही उपन्यास सम्राट मुंशी प्रेमचन्द्र भी अपनी कालजयी रचनाओं (उपन्यास एवं कहानियों) के माध्यम से जहाँ एक ओर भारतीय स्वातन्त्र्य के यज्ञ में अपने साहित्य के द्वारा आहुति दे रहे थे वहीं दूसरी ओर वे देश-काल परिस्थियों को दृष्टिगत रखकर उद्योगों की स्थापना और उनकी महत्ता को भी उजागर कर रहे थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वदेशी और स्वाभिमान को दृष्टिगत रखते हुए ही साहित्यकार होने के उपरांत भी सरल शब्दों में अर्थ की महत्ता को जनमानस को समझाने के लिए 1909 में संपत्ति-शास्त्र जैसी महान कृति का सृजन किया। दक्षिण भारत में

भी नानाविध क्रिया कलापों में अपने साहित्य के माध्यम से सुब्रहमण्य भारती ने भी अपनी भूमिका सुनिश्चित की, जिससे वहाँ सामाजिक और राजनीतिक आंदोलनों ने गति पकड़ी।

अतएव भारतीय राष्ट्रीय साहित्य और स्थानीय साहित्य की भूमिका भारतीय स्वातन्त्र्य समर में किसी भी प्रकार से कमतर नहीं रही है। आवश्यकता है तो उसे उजागर करने की जिससे सर्व साधारण उससे परिचित हो सकें। स्थानीय साहित्य जोकि मातृ भाषाओं में रचा गया था ने राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन की है किन्तु इस प्रकार के तथ्यों को उजागर करने में सामान्यता नानुंच की गई है। क्योंकि यदि ऐसा न होता तो देश के लम्बरदारों की हेटी हो जाती और भारतीय स्वातन्त्र्य समर का युद्ध सर्व साधारण के नाम हो जाता। समस्त संघर्ष तो कुछ बनाम सर्व साधारण का ही रहा।

सन्दर्भ

1. जे० एन० फरकुहर, द आर्गेनाईजेशन ऑफ द सन्यासीज ऑफ वेदांत, जर्नल ऑफ द रॉयल एसियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैंड, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, जुलाई 1925, पृष्ठ 479-86 एवं एंटोनोवा, ए हिस्ट्री ऑफ इंडिया, (1949) बम्बई पृ०29
2. आनंद स्वरूप मिश्रा, नाना साहब पेशवा एंड द फाइट फ़ॉर फ्रीडम, (1961) इन्फॉर्मेशन डिपार्टमेंट, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, पृष्ठ 198
3. तदैव
4. सत्य केतु विद्यालंकार; आर्य समाज का इतिहास, खण्ड 1 (2014) आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली पृ० 697-98
5. महात्मा गांधी, हिन्द स्वरूप, सर्व सेवा प्रकाशन संघ, वाराणसी, (2013) पृ० 23
6. सुन्दर लाल, भारत में अंग्रेजी राज खण्ड-3 (1938) इलहाबाद पृ० 1151
7. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी साहित्य का इतिहास, (2014) लोकभारती, इलाहाबाद, पृ०
8. डा० रामविलास शर्मा स्वाधीनता संग्रामः वदलते परिप्रेक्ष्य, (2003) हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली व़िश्वविद्यालय, दिल्ली पृ० 132
9. तदैव
10. तदैव पृ० 133
11. तदैव
12. तदैव
13. तदैव पृ० 134
14. तदैव
15. तदैव पृ० 83
16. तदैव
17. सुरेन्द्र नाथ सेन, अठारह सौ सत्तावन (1857) प्रकाशन विभाग नई दिल्ली पृ० 41
18. तदैव
19. तदैव
20. डा० रामविलास शमा स्वाधीनता संग्राम बदलते परिप्रेक्ष्य (2003) पृ० 218, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली व़िश्वविद्यालय, दिल्ली पृ० 132
21. तदैव
22. तदैव
23. तदैव
24. तदैव
25. तदैव 2019
26. एगनस मेडिसन, द वर्ल्ड इकोनोमी, (2007) अकादमिक फाउंडेशन, नई दिल्ली पृ० 110-119
27. संपादक अनिल कुमार, कार्ल मार्क्स के भारत संदर्भ में 2012 सिद्धार्थ बुक्स नई दिल्ली पृ० 10-11
28. डा० रामविलास शमा स्वाधीनता संग्राम: बदलते परिप्रेक्ष्य (2003) हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय दिल्ली व़िश्वविद्यालय, दिल्ली पृ० 132
29. तदैव
30. तदैव
31. तदैव

1. आचार्य, राजनीति विज्ञान विभाग
चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय
मेरठ (उत्तरप्रदेश)
2. आचार्य, शिक्षक शिक्षा विभाग,
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय,
महेंद्रगढ़ (हरियाणा)

भारतेन्दु युग में राष्ट्रीयता का स्वरूप

— मनोज कुमार गुप्ता, डॉ. सुशीला लड्ढ़ा

राष्ट्रीयता का वास्तविक लक्ष्य राष्ट्र को आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक दृष्टि से उन्नत करना हो सकता है, किन्तु पराधीन देश में राष्ट्रीयता देश भक्ति या राष्ट्रभक्ति का पर्याय होती है। इसका सर्वप्रथम उद्देश्य देश को स्वाधीन करना होता है क्योंकि परतन्त्रता देश की उन्नति का बाधक तत्व है। कभी-कभी किसी युग विशेष में कोई तत्व प्रधान तथा प्रभावशाली हो जाता है तो राष्ट्रीयता के स्वरूप तथा अभिव्यक्ति में अन्तर आ जाता है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का अंकुर तो वैदिक काल से ही अंकुरित हुआ प्राप्त होता है, परन्तु उस काल खण्ड में सांस्कृतिक भावना अधिक प्रबल है, क्योंकि भारत वर्ष उस समय अखण्ड आर्यावर्त था और उसका एक मात्र उद्देश्य देश के विभिन्न क्षेत्रों में उन्नति करना था इस काल में धर्मिक भावना प्रधान होने के कारण राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना मानी जाती थी। भारतीय इतिहास में राष्ट्रीयता का जो स्वरूप प्राप्त है उसका उल्लेख विभिन्न ऐतिहासिक आन्दोलनों में मिलता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीयता का स्वरूप बदलने लगा था। भारतेन्दु जी के हिन्दी साहित्य एंव समाज में प्रवेश करने से पूर्व अंग्रेजी पढ़ना और ब्रिटिश सरकार की सेवा करना ही लोगों का धर्म और कर्म हो गया था। सरकार ने भारतीयों की भावनाओं को इस प्रकार कुंठित कर दिया था कि वे देश के लिये लगाव तथा गुलामी, पतन एवं अपमान का अनुभव तक न कर सकते थे। उनकी विचारधारा इस प्रकार बना दी गयी थी कि मुसलमानों के अत्याचारों से देशवासियों को छुटकारा दिलाने वाले अंग्रेज ही थे। दूसरी ओर अंग्रेजों ने मुसलमानों से ही सत्ता प्राप्त की थी। इसलिए वे कुछ हद तक उनका भी आदर सम्मान करते थे। कुल मिलाकर अंग्रेजों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों की भावनाओं पर अपनी कूटनीति का पर्दा डालकर दोनों को संतुष्ट करने के प्रयास में सफलता प्राप्त कर ली थी। स्वार्थसिद्धि के लिये दी गयी शिक्षा, व्यापार वृद्धि के साधन, फ्रांस की विजय से भारतीयों के मन का आवरण शनैः-शनै हटने लगा था और उनमें देश के प्रति अनुराग और

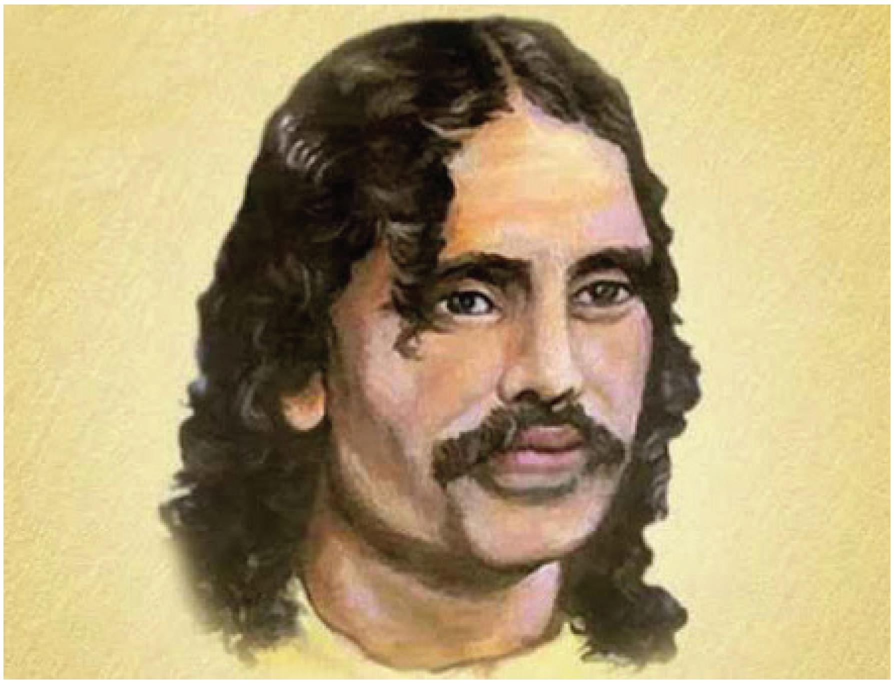

जागरण की भावना ने जन्म ले लिया था।

भारतेन्दुकाल से ही राष्ट्रीयता का स्वरूप धीरे-2 प्रखर होने लगा था। इस समय तक देश पर अंग्रेजों का पूर्ण आधिपत्य हो गया था और वे सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक सभी क्षेत्रों में भारतीयों का शोषण करने लगे थे। धार्मिक क्षेत्र में इस ब्रिटिश सरकार का ध्येय भारत में हिन्दू धर्म को समाप्त कर ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार करना हो गया था। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीयता की भावना का जागरण हुआ। कुछ महान भारतीयों ने आगे कदम बढ़ाये क्योंकि धर्म की बात आ गयी थी। फलतः धार्मिक, सांस्कृतिक जागरण हुआ। उसी से राजनैतिक क्षेत्र में भी जागृति आ गयी। भारतीय राष्ट्रीयता में सांस्कृतिक जागरण ही राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति है ऐसी अवधारणा है।

पराधीन देश में राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति मुख्यतः प्राचीन संस्कृति से प्रेरणा लेकर आत्मविश्वास और आत्मनिर्भरता की भावना जागृत करने में होती है। आधुनिक राष्ट्रीयता के अंकुर फूटने पर अपनी संस्कृति से ही भारतीयों में आत्मविश्वास की भावना जागृत हुई। ब्रिटिश शासन में राजनीतिक क्रान्ति ही मुख्य स्वर था। इसलिये कुछ विद्वानों का मत इस प्रकार है कि- "भारतीय राष्ट्रीयता का जन्म भारतीय तथा ब्रिटिश स्वार्थों के संघर्ष के फलस्वरूप हुआ था। स्वार्थों का संघर्ष जितना ही तीव्र होता गया भारतीय राष्ट्रीयता और उग्र होती गयी।"[1]

ब्रिटिश शासकों ने अपने शासन को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से भेदभाव व विद्वेष की भावना को उभारा, परन्तु भारतीयों में जागृति आने पर इसका परिणाम प्रतिकूल ही हुआ। फलस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में विविध आन्दोलनों का जन्म हुआ। इस सम्बन्ध में डॉ. कर्ण सिंह के विचार हैं कि ये आन्दोलन आधुनिक राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में अति सहायक सिद्ध हुए।[2]

जहां राजनैतिक क्षेत्र में राजनीतिज्ञों ने राष्ट्रीय भावना को उभारा है वहां साहित्यिक क्षेत्र में कवियों और लेखकों की लेखनी ने भी उसमें पूर्ण योगदान दिया है।

राष्ट्र को समृद्ध, उन्नत और सुखी तथा गौरवशाली बनाने के लिये तथा राष्ट्रीय एकता का निर्माण करने के लिये

ब्रिटिश शासकों ने अपने शासन को चिरस्थायी बनाने के उद्देश्य से भेदभाव व विद्वेष की भावना को उभारा, परन्तु भारतीयों में जागृति आने पर इसका परिणाम प्रतिकूल ही हुआ। फलस्वरूप राजनैतिक, सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में विविध आन्दोलनों का जन्म हुआ।

कुछ राष्ट्रीय तत्त्वों का होना अनिवार्य है। राष्ट्रीयता का स्वरूप परिवर्तनशील होने के कारण इसमें तत्त्व प्रधान और गौण होते रहते हैं। जिनका स्पष्ट वर्णन निम्नवत किया जा सकता है।

क. वंशगत एकता
ग. सामाजिक अनुभूति
ड. भाषा
छ. स्वाधीनता
झ. राष्ट्रीयता और जातीयता
ट. राष्ट्रीयता और देश भक्ति
वंशगत एकता : वंशगत एकता
ख. भौगोलिक एकता
घ. धार्मिक संगठन
च. सांस्कृतिक और परम्पराओं की एकता ज. राजनैतिक और आर्थिक एकता
ञ. राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता
ठ. राष्ट्रीयता और धर्म

क. वंशगत एकता : राष्ट्रीयता का प्रारम्भिक तत्त्व है। रक्त सम्बन्ध के आधार पर ही जाति, समाज एवं राष्ट्र का निर्माण हुआ। यह राष्ट्र की परिकल्पना का मूल तत्त्व होते हुए भी आज कुछ गौण स्थान प्राप्त किये हुए हैं। ऊपर जाति बन्धन ढीले होने पर और विजातियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर लेने से रक्त की पवित्रता का दावा करना कठिन होता जा रहा है। आज किसी भी देश के जनसमूह में एक ही वंश, भाषा या धर्म की समानता का होना सम्भव नहीं रह गया है। अतः वंशगत एकता या रक्त सम्बन्ध राष्ट्रीयता का प्रबलतम अंग नहीं रहा गौण अंग रहा है।

ख. भौगौलिक एकता : किसी भी राष्ट्र के निर्माण के लिये एक विशिष्ट भूभाग का होना आवश्यक है। भूमि के अभाव में राष्ट्रीयता का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में अन्य विद्वानों ने भी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। डॉ. विद्यानाथ गुप्त के अनुसार- "भौगोलिक सीमाओं से घिरा हुआ निर्दिष्ट प्रदेश जिसे जन-समुदाय अपना कह सके, राष्ट्रीय भावों को जन्म देने में सहायक होता है।[3] अतः निश्चित भौगोलिक सीमाओं वाला प्रदेश राष्ट्रीय चेतना को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होता है। भूमि के अभाव में राष्ट्रीय भावना अधिक देर तक सजीव नहीं रह सकती। अत: स्वदेश की भावना किसी भी जाति के राष्ट्रीय जीवन को सदैव उन्नत और जागृत बनाये रखती है।

ग. सामाजिक अनुभूति : देशवासियों में जातिगत एकता या सामाजिक अनुभूति की भावना राष्ट्रीयता का प्रबलतम बंधन है। प्रत्येक देश की एकमात्र जाति होती है। उस जाति की भावना राष्ट्र के प्रति वैसी ही होती है जैसी कि पुत्र की माता के प्रति। यही संस्कृति की एक महान विशेषता है और वही राष्ट्रीय जाति भी कहलाती है। जिस जाति में राष्ट्र के प्रति गौरव हो तथा अपने देश के लिये सभी व्यक्तिगत सुखों का परित्याग करके देशहित में सतत रहने की भावना क्रियाशील हो। वही राष्ट्र भक्त जाति है। राष्ट्र - भक्त प्रजा है।

घ. धार्मिक संगठन : धार्मिक उन्नति और अध्यात्मिक विकास

> **"*भारत के प्रमुख धार्मिक ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा गीता आदि में धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है जिसमें राष्ट्रीयता की भावना का भी समावेश है। धर्म केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है- राष्ट्रीयता एक धर्म है- राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार हमें जीना है, राष्ट्रवादी बनने के लिये राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करना होगा।*"**

राष्ट्रीयता के पोषक अंग हैं। धार्मिक विश्वास रखने वाले व्यक्ति परस्पर बंधुत्व के भाव में बँधे रहते हैं। धर्म एक ऐसा आधार है जो उस धर्म के लोगों को अन्य भाव रखने पर भी उनको एकजुट करके रखता है। इतिहास का अध्ययन करने से पता चलता है कि अनेक युद्ध धर्म के लिये ही लड़े गये। भारत के प्रमुख धार्मिक ग्रंथों, वेदों, उपनिषदों, पुराणों तथा गीता आदि में धर्म को प्रथम स्थान दिया गया है जिसमें राष्ट्रीयता की भावना का भी समावेश है।[4] धर्म केवल राजनीतिक कार्यक्रम नहीं है- राष्ट्रीयता एक धर्म है- राष्ट्रीयता एक सिद्धान्त है, जिसके अनुसार हमें जीना है, राष्ट्रवादी बनने के लिये राष्ट्रीयता के इस धर्म को स्वीकार करना होगा।[5]

ड. भाषा : भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। वस्तुतः भाषा किसी देश तथा राष्ट्र का प्रतीक भी है। भाषा के ही माध्यम से उस देश के निवासी अपनी इच्छाओं को, अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं। भाषा के माध्यम से मानव अपने सांस्कृतिक मूल्यों को पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक जीवित रख सकता है। भाषा ही वह माध्यम है जिसके द्वारा उसके सांस्कृतिक, राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक आदि भावों को भी अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। इसलिये भारतेन्दु जी ने भी इस सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए कहा है-

"निज भाषा उन्नति अहै,
सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के,
मिटै न हिय को शूल।"[6]

भारतेन्दु जी ने अपनी भाषा को ही उन्नति का मूल माना है और भाषा ही अज्ञान के बादल हटाकर ज्ञान का प्रकाश करती है। अतः हमारी भाषा भी राष्ट्रीयता की प्रतीक मानी जानी चाहिए। इस बारे में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मत है कि- " भाषा हमारी संस्कृति का प्रतीक है उसको मूल समस्या मानना चाहिये।"[7] इसके अतिरिक्त महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने इस प्रकार अपनी अभिव्यक्ति ही है- अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वेदश की उन्नति का साधक है।[8] "विदेशी भाषा का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्वपूर्ण ग्रंथ रचना करने पर सफलता प्राप्त नहीं हो सकती और अपने देश को

विशेष लाभ नहीं पहुंच सकता।'[9]

इस सम्बन्ध में डॉ. विद्यानाथ गुप्ता ने इस प्रकार लिखा है- "जो राष्ट्रीय जीवन एक ही भाषा के क्रोड़ में विकास पाता है वह भिन्न-भिन्न भाषाओं के प्रयोग करने पर सम्भव नहीं होता।[10]

च. सांस्कृतिक और परम्पराओं की एकता : किसी भी देश के सामाजिक मूल्यों का सम्बन्ध उसकी संस्कृति से जुड़ा होता है। राष्ट्र की राष्ट्रीयता के निर्माण में संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान होता है। प्रत्येक देश की अपनी संस्कृति होती है। सभ्यता, इतिहास, धर्म, दर्शन, कला, परम्परा आदि के सम्मिलन से संस्कृति का विकास होता है। देश में अनेक संस्कृतियों के होते हुए भी उन सबके मूल में एकता होती है। अनेकता में एकता की भावना रहने पर भी सांस्कृतिक एकता राष्ट्रीय एकता की भूमिका बनाती है। इन्हीं से देशवासियों का सामाजिक और नैतिक उत्थान हुआ और स्वतन्त्रता की प्रेरणा इन्हीं से मिली। इस प्रकार संस्कृति और परम्पराओं की एकता भी राष्ट्रीयता का प्रमुख तत्त्व है।

छ. स्वाधीनता : पराधीन देशवासियों के लिये स्वाधीनता की भावना का जागरण ही राष्ट्रीयता का प्रथम चिन्ह है। स्वाधीनता से अभिप्राय केवल बंधनों से मुक्त होना ही नहीं बल्कि वैचारिक एवं सैद्धान्तिक और मानसिक सभी का स्वतन्त्र होने से है तभी किसी देश के नागरिक "स्व" से "पर" की ओर उन्मुख हो सकते हैं। इसी से राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होती है।

ज. राजनैतिक और आर्थिक एकता : राजनैतिक एकता राष्ट्रीयता का एक अभिन्न अंग है। प्रत्येक राष्ट्र के निवासियों में यह कामना होती है कि उनका अपना एक राज्य हो और उस पर उनका अपना प्रभुत्व हो, क्योंकि अपने राज्य में ही राष्ट्रीय भावनाएं प्रफुल्लित हो पाती हैं और राष्ट्रीयता का स्वरूप मूर्तिमान हो जाता है और देश और जाति को सुरक्षित रखने के लिये राजनैतिक एकता का सहारा लेना पड़ता है। पराधीनता की बेड़ियों से छुड़ाने के लिये राजनैतिक एकता एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

झ. राष्ट्रीयता और जातीयता : राष्ट्रीयता और जातीयता एक-दूसरे के पोषक अंग होते हुए भी अपना भिन्न अस्तित्व रखते हैं। राष्ट्रीयता, जाति, वर्ण और रक्त के भेदभाव को भुलाकर राष्ट्रहित की भावना से अभिप्रेरित होती है जबकि जातीयता में रक्त सम्बन्ध की संकीर्णता होती है। इसका आधार एक जाति विशेष से होता है। राष्ट्रीयता का क्षेत्र अधिक व्यापक है। अनेक जातियों के संयोग से राष्ट्र का निर्माण होता है।

> ***पराधीन देशवासियों के लिये स्वाधीनता की भावना का जागरण ही राष्ट्रीयता का प्रथम चिन्ह है। स्वाधीनता से अभिप्राय केवल बंधनों से मुक्त होना ही नहीं बल्कि वैचारिक एवं सैद्धान्तिक और मानसिक सभी का स्वतन्त्र होने से है तभी किसी देश के नागरिक "स्व" से "पर" की ओर उन्मुख हो सकते हैं। इसी से राष्ट्रीय भावना उत्पन्न होती है।***

ञ. राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता : राष्ट्रीयता का क्षेत्र बहुव्यापक, उदार और विकासशील है, जबकि साम्प्रदायिकता सीमित, संकुचित और संकीर्ण है। राष्ट्रीयता अन्य अनुकूल परिस्थितियों में होती है तो साम्प्रदायिकता का जन्म प्रतिकूल परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता है। राष्ट्रीयता एकता के सूत्र में आबद्ध करती है जबकि साम्प्रदायिकता एकता से अनेकता की ओर जाने के लिये प्रेरित करती है।

ट. राष्ट्रीयता और देशभक्ति : राष्ट्रीयता का आधार देशभक्ति ही है। अपने देश की भूमि के प्रति अनुराग प्रकट करना देश भक्ति ही है इस भूमि पर रहने वाले निवासियों में एकानुभूति द्वारा देश को उन्नत और समृद्ध बनाना राष्ट्रीयता है। देश की वंदना, गौरवगान, प्राचीन संस्कृति पर अभिमान आदि देशभक्ति की भावना को उद्दीप्त करते हैं जबकि देश की सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक उत्थान राष्ट्रीयता को पुष्ट करता है।

ठ. राष्ट्रीयता और धर्म : राष्ट्रीयता का आधार बुद्धि और तर्क है, परन्तु

धर्म मनुष्य की आस्था और भावना पर आधारित होता है। धर्म की संकीर्णता और अंधविश्वास राष्ट्रीयता को क्षति पहुंचाते हैं। धर्म की संकीर्णता राष्ट्रीयता के लिये सदैव बाधक रही है। अनेक देशों में धर्म राष्ट्रीयता को खण्डित करने वाला तत्त्व सिद्ध हुआ है। यदि धर्म को व्यापक रूप में ग्रहण किया जाये तो यह राष्ट्रीयता के लिये सहायक एवं समर्थक बन सकता है। धार्मिक क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होने पर ही राष्ट्रीय एकता सम्भव हो सकती है। भारत इसका सफल प्रमाण है, क्योंकि इस देश में धार्मिक भिन्नता होते हुए भी राष्ट्रीय एकता विद्यमान है।

उपरोक्त सभी तत्त्वों के आधार पर ही राष्ट्रीयता का निर्माण होना सम्भव है। राष्ट्रीयता के निर्माण में प्रत्येक तत्त्व का अपना कुछ-न-कुछ योगदान रहा है जिस कारण ये तत्त्व राष्ट्रीयता का अभिन्न अंग बन गये हैं जिनकी अनुपस्थिति में राष्ट्रीयता का विकास सम्भव जान नहीं पड़ता है। इस सम्बन्ध में प्रो० हेजे ने कहा है कि- "राष्ट्रीयता की उदात्त भावना जहां सीमा का अतिक्रमण कर जाती है वहीं घातक तत्त्व बन जाती है।[11]

जहां प्रो. हेजे ने राष्ट्रीयता की उदात्त भावना को ईर्ष्या को जन्म देने वाली बताया है वहीं डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है कि- "राष्ट्रीयता एक सीमा तक मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यों की अनुकूल थी, लेकिन सीमा व्यक्तिक्रम करने के बाद इसका एक अत्यन्त कुत्सित रूप सामने आता है। वह यह कि अपने देश को धनधान्य से समृद्ध बनाने के लिये दूसरे देशों का शोषण किया जा सकता है। अपने देश के प्रासाद संवारने के लिये दूसरे देश की झुग्गियां जलायी जा सकती हैं।[12]

> ***"राष्ट्रीयता एक सीमा तक मनुष्य के उच्चतर उद्देश्यों की अनुकूल थी, लेकिन सीमा व्यक्तिक्रम करने के बाद इसका एक अत्यन्त कुत्सित रूप सामने आता है। वह यह कि अपने देश को धनधान्य से समृद्ध बनाने के लिये दूसरे देशों का शोषण किया जा सकता है। अपने देश के प्रासाद संवारने के लिये दूसरे देश की झुग्गियां जलायी जा सकती हैं।***

अतः स्पष्ट है कि इस राष्ट्रीयता में जहां स्वार्थ की भावना आ जाती है वहां ईर्ष्या और प्रतिद्वंद्विता का जन्म होता है और यह भावना इतनी प्रबल हो जाती है कि अन्य राष्ट्रों के प्रति घृणा उत्पन्न होने लगती है। इस प्रकार पराधीन राष्ट्र भी अन्य राष्ट्रों की भांति अपने देश को राष्ट्र बनाने का प्रयास करने लगते है। पर राष्ट्रीयता के विकास के लिये चाहे वह कोई भी कुटुम्ब हो, गॉव हो, प्रदेश हो, राष्ट्रीयता में मानव प्रेम एवं देश-प्रेम की भावना प्रमुख अंग थी, है और रहेगी भी।

सन्दर्भ

1. डॉ. चण्डी प्रसाद जोशी, हिन्दी उपन्यासों का समाज शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 170
2. डॉ. कर्ण सिंह : भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत, पृ. 5
3. डॉ. विद्यानाथ गुप्ता - हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ. 11
4. स्वधर्ममपि-चावेक्ष्य न विकस्पिमतुर्महसि।
   धर्माद्धि युद्धाच्छे योडन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यतें।
   सम्पादक हनुमान प्रसाद पौददार गीता - 2 31
   गीता प्रेस गोरखपुर (उ0प्र0)
5. महावीर प्रसाद द्विवेदी - सरस्वती (पत्रिका) अगस्त 1905, पृ. 310
6. सम्पादक बृज रत्न दास - भारतेन्दु ग्रंथावली (दूसरा भाग) पृ. 731
7. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास, पृ. 401
8. श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी - साहित्य की महत्ता।
9. वही।
10. डॉ. विद्यानाथ गुप्ता - हिन्दी कविता में राष्ट्रीय भावना, पृ. 15
11. डॉ. पुष्पा थरेजा - भारतेन्दु युगीन साहित्य में राष्ट्रीय भावना, पृ. 28
12. डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी - हिन्दी साहित्य : उदभव और विकास, पृ. 395

1. शोध-छात्र 'हिन्दी'
2. शोध-निर्देशिका
मेवाड़ विश्वविद्यालय,
चित्तौड़गढ (राजस्थान)

हिन्दी और मलयालम समस्या नाटकों में समभाव

— डॉ. अनीश के.एन.

नाटक एक सामाजिक कार्यक्रम है। वेद और अध्यात्म से उत्पन्न होने से नहीं अनपढ और अशिक्षित समाज को प्रभावित करने की दृष्टि से नाटक महत्वपूर्ण है। कभी कभी नाटक एक शस्त्र के रूप में सामाजिक परिवर्तन के लिए अपना योगदान अदा करता है। समाज से अनुप्राणित हो नाटक और समाज को ही समर्पित रहा है। नाटक की कथावस्तु पर जनता की अन्त: क्रियाओं का प्रभाव पडता है। नाटक की लोकोपदेशकारी दृष्टि उसे मानव व्यवहार और उसकी अभिव्यक्ति से समृद्ध करती है।भरत मुनी ने अपने नाट्यशास्त्र में इस तथ्य को प्रतिपादित करते हैं कि- " लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति"[1]

समस्या नाटक एक विशिष्ट नाट्यधारा है, जिसका उदय और विकास पश्चिम में हुआ। इसकी मूलप्रेरणा एवं मूलाधार यथार्थवाद और बुद्धिवाद है। यथार्थवाद का उदय उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में हुआ था। यथार्थवाद कला और साहित्य में प्रकृति या जीवन से संबन्ध रखनेवाला सिद्धांत है। फ्रेंच दार्शनिक देकार्ते के बुद्धिवाद से साहित्य में भावना और कल्पना का स्थान नष्ट हो गया। इसके साथ साथ डार्विन और उनकी रचना 'दि ओरजिन आफ स्पीषिस' का योगदान भी महत्वपूर्ण है। डार्विन ने भी आधुनिक यूरोप को अपनी दृष्टि से प्रभावित किया। मार्क्स, फ्राइड आदि दार्शनिकों की देन भी उल्लेखनीय। माक्सिम गोर्की, आंटन चेकोव आदि युग प्रवृत्तकों को भी इस सन्दर्भ में स्मरण करना जरूरी है।

उन्नीसवीं शती के उत्तराद्ध में यूरोप की स्थिति संक्रमणकालीन थी। नये युग के समाजवाद एवं राजनैतिक विचारधारा के प्रभाव से जन जीवन क्रांति की ओर मुडने लगा। पुरानी और नई विचारधाराओं में टकराहट होने के कारण सामाजिक जीवन में अनेक अनेक समस्यायें उत्पन्न होने लगी। ऐसी सामाजिक स्थिति में समस्या नाटक का आविर्भाव हुआ।

परंपरावादी सामाजिक व्यवस्था की विषमताओं का विश्लेषन करना उसका लक्ष्य रहा। इसमें मानव संबन्धों, स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी, पिता –पुत्र, व्यक्ति – समाज जैसे विभिन्न सामाजिक संरचना की पारस्परिकता को नये सिरे से व्याख्या करने लगी। आधुनिक समय में प्रेक्षक का दृष्टिकोण यथार्थोन्मुखी और बौद्धिक हो गया। अत: नाटक भी यथार्थवादी रंगमंच में प्रस्तुत करने लगा।

इंटिपेंडड थियेटर सोसाइटी और मोस्को थियेटर इसका उदाहरण है। इटिपेंडड थियटर समस्या नाटक के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। उस समय समसामयिक समस्याओं पर आधारित विचारात्मक नाटकों का प्रस्तुतीकरण होने लगा। वैज्ञानिक विकास ने जनता को बौद्धिक बना दिया। इससे नाटक में कल्पना और भावना का महत्व कम होने लगा।समस्या नाटकों में साधरण जीवन की समस्याओं का यथार्थ चित्रण होते है। समस्या नाटक वह है, जिसमें युग जीवन को चिंतित करनेवाली किसी एक समस्या पर विचार किया गया है।

इब्सन को समस्या नाटक का जन्मदादा माना गया है। प्राचीनता और नवीनता के बीच द्वन्द्व इब्सन नाटक का अलग पहचान है। लबस कोमडी का संवाद देखिए –" यदि तुम प्रेम करते है तो विवाह से दूर रहो और यदि विवाह करना है तो प्रेम छोडो।"[2] डोल्स हौस में जो नोरा है वह नारी जागरण की दृष्टि से और समस्या नाटक की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है।

भारतीय नाट्यसाहित्य भी विश्व की इस नवीन चेतना से जागृत हो गयी। समस्या नाटक ने भारतीय नाट्यकला को एक नया मोड प्रदान किया। हिन्दी और मलयालम के समस्या नाटककारों ने वर्तमान जीवन की प्रमुख समस्याओं को अपने नाटकों के ज़रिए उभारने की कोशिश की।नाटक का लक्ष्य मुख्य रूप से जीवन में व्याप्त विसंगतियों और विद्रूपताओं का पर्दाफाश करना है।

हिन्दी और मलयालम समस्या नाटकों का तुलना करते समय सर्वप्रथम यह बात उभरकर आता है कि दोनों भाषा के नाटककारों ने दिन–ब-दिन बढ़ती हुई पारिवारिक समस्याओं का गहराई से अध्ययन किये हैं। परिवार तो समाज की सबसे छोटी और महत्वपूर्ण इकाई है। वैयक्तिक स्वतंत्रता के मोह के कारण पारिवारिक संबन्धों में दरारें पडने लगी। भारतीय पारिवारिक जीवन के इन दरारों को चित्रित करने में समस्या नाटककार सफल है। हिन्दी में उपेद्रनाथ अश्क का 'छठा बेटा' में पिता और पुत्र के संबन्धों मेंब आये हुए बदलाव का चित्रण हुआ है।

मलयालम में वी.टी., एम. आर .भी. और प्रेमजी के नाटक यथार्थवादी रंगमंच के निकट है। 'रसोई घर से रंगमंच की ओर' नाटक में वी.टी. ने नंपूतिरि समाज का चित्रण किया है। इसके माध्यम से जड आचार निष्ठाओं को तोडकर, नारी के सपनों की पूर्ति करने की कोशिश वी. टी. ने की। मलयालम के प्रथम समस्यानाटककार का श्रेय एन. कृष्णपिलै को है। उन्होने इब्सन को अपना प्रेरणा स्रोत माना है। उनके प्रमुख समस्यानाटक है 'उजडा घर', कन्यका, समझौता, बलपरीक्षा और मरीचिका।

> ***हिन्दी और मलयालम समस्या नाटकों की तुलना करते समय सर्वप्रथम यह बात उभरकर आती है कि दोनों भाषा के नाटककारों ने दिन–ब-दिन बढ़ती हुई पारिवारिक समस्याओं का गहराई से अध्ययन किये हैं। परिवार तो समाज की सबसे छोटी और महत्वपूर्ण इकाई है। वैयक्तिक स्वतंत्रता के मोह के कारण पारिवारिक संबन्धों में दरारें पडने लगी। भारतीय पारिवारिक जीवन के इन दरारों को चित्रित करने में समस्या नाटककार सफल है।***

कामकाजी बेटी से लाभ प्राप्त करने के लिए उसे जीवन भर कुमारी रहने की इच्छा करनेवाले माँ-बाप की मानोवृत्ति मुनाफे पर केन्द्रित है। एन . कृष्णपिल्लै ने 'कन्यका' नाटक में इस सत्य की ओर इशारा किया है। उपेन्दनाथ अश्क का 'अलग अलग रास्ते' में दहेज के लिए पत्नी का त्याग करनेवाला त्रिलोक आधुनिक सभ्यता का प्रतीक है। लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'राजयोग' में भी धन और सत्ता के बल पर नारी को दासी बनानेवाले वृत्ति की ओर संकेत हुआ है।

गरीबी और अभावग्रस्तता में उजडनेवाले परिवारों की जिन्दगी का चित्रण मलयालम समस्यानाटककारों ने बखूबी ढंग से किया है।एन. कृष्णपिल्लै का 'पूँजी' सी. एन . श्रीकण्ठन नायर का 'यह फल मत खाओ' तिक्कोडियन का 'बली' जैसे नाटक इसप्रकार है। गरीबी के कारण वेश्या बन जाने केलिए विवश नारी का रूप समस्यानाटक का एक मुख्य विषय है। राक्षस का मन्दिर, फूलवाली (गोपीनाथन नायर) कापालिका(एन. एन. पिल्लै) जैसे नाटककों में अर्थाभाव के कारण अपनी जिन्दगी को बरबाद करनेवाली नारी का रूप देख सकते हैं।

अनमेल विवाह, असफल प्रेम, अतृप्त कामवासना, आदि पर आधारित समस्याओं को उभारने में समस्यानाटककार सफल हुए है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सन्यासी', 'मुक्ति का रहस्य', सिन्दूर की होली, राक्षस का मन्दिर आदि नाटक प्रेम और विवाह से जुडी समस्याओं का उद्घाटन करते हैं। मलयालम में विधवा की कामवासना से उपजी समस्याओं का चित्रण बलपरीक्षा(एन. क्रृष्णपिल्लै), वह फल मत खाओ (सी.एन.)बेप्रसूत माँ (तिक्कोडियन) जैसे नाटकों में हुआ।

सन्यासी नाटक की प्रमुख समस्या प्रेम और विवाह की है। आलोचकों ने इसपर इब्सन के 'लबस कोमडी' का प्रभाव देखा है।इस नाटक में सहशिक्षा और कोलेज में जो प्रेम है उसका चित्रण

है साथ ही साथ अवैद्य संतानों की समस्य भी है।राक्षस का मन्दिर वेश्या जीवन पर आधारित है।इसमें रामलाल का कथन देखिए " वह राक्षस है।और राक्षस का अपना कोई घर नहीं होता। वह देवता के मन्दिर में घुस जाता है और निर्बल होने के कारण देवता उसे रोक भी नहीं पाता।"[3] इस नाटक में मुनीश्वर तो राक्षस के रूप में है और वह सोचता है कि "दुनिया में कोई बन्धन न हो, न पति धर्म, न पितृ धर्मऔर न आदर्श"[4]।

उपेन्द्रनाथ अश्क के विख्यात नाटक 'अंजो दीदी' में मनोग्रंथी की शिकार बनी अंजली नामक औरत की जिन्दगी का चित्रण हुआ है। समय की पाबन्दी रखनेवाली अंजली अपने परिवार को अपनी इच्छा के अनुसार संभालती है। उसके पति और पुत्र उसके शासन में अपना अस्तित्व खो बैठते है। अंत में जब पति उसकी आज्ञाओं को पालन करने में असमर्थ बनता है तो अंजली अत्महत्य करती है।

मलयालम नाटक उजडा घर में प्रेम और अनमेल विवाह की करुण कहानी नाटक में प्रस्तुत की गयी है।अपनी आर्थिक तंगी के कारण माँ-बाप अपनी बेटियों की शादी उनकी इच्छा के खिलाफ करा देने केलिए मज़बूर हो जाते है। बडी लडकी राधा शादी के बाद भी अपने पुराने प्रेमी को न छोड सकती और अपने शराबी पति को न व्यार कर सकती है। पूर्वप्रेमी राधा को स्वीकार करने के लिए तैयार है। लेकिन प्रेम और कर्तव्य के बीच बिलकुल बिगड जाती है। अनमेल विवाह के कारण छोटी बहन सुमती आत्महत्या करती है।

यह फल मत खाओ(सी.एन.) नाटक में नाटककार ने सरस्वतियम्म नामक एक विधवा नारी का चित्रण किया है जो अपने बेटे के लिए जी रही है। उससमय सरस्वतिआम्मा और बालकृष्णन नायर के साथ प्रेम, लेकिन बेटे के लिए प्रेम को अस्वीकार करती है। अंत में मां आत्महत्या करती है।

हिन्दी में लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्द दास के नाटकों में समसामयिक राजनीति अंकित है। मिश्र ने राष्ट्रीय आन्दोलन में कर्मरत पात्रों के माध्यम से तत्कालीन राजनीतिक समस्या का चित्रण किया। संन्यासी में विश्वकांत और मुरलीधर को जेल जाना पडता है। विश्वकांत के द्वारा ऐश्यायी संघ की स्थापना के बारे में भी नाटक में उल्लेख है।मुक्ति का रहस्य में वर्तमान चुनाव की नीति का चित्रण है। उमाशंकर गान्धीवादी विचारधारा के समर्थक हैऔर वह चुनाव जीतने के लिए कोई षडयंत्र नहीं रचता है।सेठ गोविन्द दास का 'प्रकाश' नाटक में पूंजिपति और उद्योगपतियों का चित्रण है। 'सेवा-पथ'नाटक में समाज सेवा का चित्रण है, साथ ही साथ गाँन्धीवाद का महत्व स्थापित किया गया है।

> ***हिन्दी नाटककार राष्ट्रीय विचार धारा के प्रबल समर्थक थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले में वे गिरफ्तार भी किए गये है। अत: स्वतंत्रता आन्दोलन का जो प्रभाव हिन्दी समस्या नाटककारों पर पडा है, उतना मलयालम के नाटककारों पर नहीं है।***

मलयालम समस्या नाटकों में राजनीतिक समस्याओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। मिश्र और सेठ गोविन्द दास जैसे हिन्दी नाटककार राष्ट्रीय विचार धारा के प्रबल समर्थक थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के सिलसिले में वे गिरफ्तार भी किए गये है। अत: स्वतंत्रता आन्दोलन का जो प्रभाव हिन्दी समस्या नाटककारों पर पडा है, उतना मलयालम के नाटककारों पर नहीं है। पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, व मनोवैज्ञानिक समस्याओं का विवेचन करनेवाले समस्या नाटक चर्चा का विषय है।

संदर्भ

1. भरतमुनि: नाट्यशास्त्रमं, पृ - 28
2. इब्सन : लबस कोमडी पृ -78
3. लक्ष्मीनारायण मिश्र : राक्षस का मंदिर पृ-18
4. वही :19

*(सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग,
कोचीन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय,
कोचीन -682022)*

क्षमा कौल की कहानियों में कश्मीरी जीवन का यथार्थ

— अमन सिंह

"पहले मुझे निकाला गया घर से
फिर शहर से
जहां शरण ली थी उस शहर से
फिर जहां शरण ली थी
उस शहर से भी
ख़बर है कि मुझे निकाला जाएगा,
इस शहर से भी।"[1]

"कहानी अपने समकालीन समाज के प्रति सर्वाधिक संवेदनशील विधा मानी जाती है।"[2] कहानी का समाज के प्रत्येक वर्गों से सीधा संबंध होता है। बदलते युग बोध के साथ हिंदी साहित्य में "कहानी ने स्वीकृत कथा-तत्त्वों, चालू नुस्खों और फार्मूलों की सायास अवहेलना करके अपने अनुभव की प्रामाणिकता पर ही अधिक बल दिया है। वह न बीते हुए कल की कहानी है, न सम्भावना के कल की, इसलिए उसमें कुतूहल भी नहीं है, जो सुनहरे जीवन का काल्पनिक भ्रम उत्पन्न करता है। इसलिए 'आगे क्या हुआ' जैसे प्रश्न आज की कहानी के सन्दर्भ में अर्थहीन हैं। सार्थक है वह अनुभूति, जो कथाकार ने आपके साथ-साथ इसी क्षण प्राप्त की है - बिना कार्य-कारण श्रृंखला में बँधी घटनाओं और रंग-बिरंगे चरित्रों के मायाजाल की सृष्टि किए बिना।"[3]

कश्मीर केंद्रित लगभग सभी हिंदी कहानियों को इसी आधार पर देखा जाना चाहिए। हिंसा और इस्लामिक उन्माद के कारण हत्याओं के उस भयावह दौर के प्रत्येक क्षणों की चित्रकारी जिस प्रकार कहानियों के माध्यम से क्षमा कौल इत्यादि लेखक - लेखिकाओं ने किया है, वह उस दौर की संवेदनात्मक इतिहास लेखन के समान सहेजने योग्य है। क्षमा कौल द्वारा रचित साहित्य दिनेश शुक्ल के शब्दों में कहें तो "धर्मांध बर्बरता के विरुद्ध लड़े जा रहे संघर्ष का शिलालेख है।"[4]

17 जुलाई 1956 को कश्मीर की राजधानी श्रीनगर में जन्मी क्षमा कौल ने अपनी कहानियों में कश्मीरी अल्पसंख्यकों के निर्वासन की पीड़ा के विविध पक्षों को प्रभावी ढंग से व्यक्त किया है। संत्रास से घिरा जीवन, नृशंस हत्या, बलात्कार और अन्य शारीरिक, मानसिक यातनाओं के बाद निर्वासित जीवन जीने की विवशता आदि को क्षमा कौल ने अपने लेखन में स्थान दिया है। उनके द्वारा लिखा गया सम्पूर्ण साहित्य कश्मीर घाटी में घटित हिंसा और वेदना को अपने अंदर समेटे हुए है, जिसे उनके 'दर्दपुर', 'उन दिनों कश्मीर', 'मूर्तिभंजक' नामक उपन्यास हो या 'बादलों में आग' नामक कविता संग्रह हो अथवा 'उन्नीस जनवरी के बाद' कहानी संग्रह हो, आदि में देखा जा सकता है। विस्थापन के दंश की जो प्रामाणिकता इनके साहित्य में मिलती है उसका कारण वस्तुतः यह है कि साहित्य जगत में जब इन्होंने कदम रखा उस समय ही कश्मीरी हिंदुओं को अपना घर, जमीन आदि सब कुछ छोड़कर विवश होकर जाना पड़ रहा था। क्षमा कौल की कहानियों में हमें स्वातंत्र्योत्तर पश्चात्, देश विभाजन तथा विशेष रूप से 19 जनवरी के बाद की त्रासदी के दंश से उत्पन्न कश्मीर की भयावह परिस्थितियाँ व कश्मीरी समाज में साम्प्रदायिक उन्माद से लेकर आतंकवाद, अलगाववाद, तत्कालीन सरकार द्वारा उसकी जानबूझकर की जाने वाली उपेक्षा तथा शोषण की पीड़ा को सहते कश्मीरी समाज का नग्न यथार्थ प्रस्तुत किया है।

कश्मीर केंद्रित हिंदी कथा साहित्य लेखन में क्षमा कौल एक स्थापित लेखिका हैं। 'दर्दपुर', 'उन दिनों कश्मीर' और 'मूर्तिभंजक' उपन्यास को कश्मीरी

अल्पसंख्यकों पर हुए अमानवीय हिंसा और बलात निष्कासन की पीड़ा का इस्पति दस्तावेज के रूप में देखा जाता है। कश्मीरी अल्पसंख्यकों की मनोस्थिति उनका संघर्ष और निर्वासन के बाद त्रासदी से भरा उनका जीवन दुनिया के सबसे बड़े लोकतंत्र में सबसे बड़े अमानवीय कृत्यों का विस्तृत कथा संसार के लगभग सभी आयामों को उकेरने में सफल क्षमा कौल कश्मीरी अल्पसंख्यकों की व्यथा-कथा की सबसे मार्मिक आवाज हैं।

19 जनवरी 1990 को कश्मीरी अल्पसंख्यकों के सामूहिक नरसंहार और निष्कासन पूर्ववर्ती और तत्कालीन सरकारों की अदूरदर्शिता और हत्याओं को सहज स्वीकार लेने वाली वैचारिकी का नतीजा रही, सरकार ने परिस्थितियों के विश्लेषण और निष्कर्षों पर पहुँचने के बजाए कट्टरपंथी ताकतों के आगे घुटने टेकने शुरू कर दिए थे। इस समस्या की जड़ों पर बात करते हुए जगमोहन लिखते हैं - "ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के अभाव में आप और आप जैसे लोग, कश्मीर में पृथकतावाद और देशद्रोह की फसल जिन जड़ों और सिराओं से पनपी हैं, उन्हें कभी समझ नहीं पाए। कश्मीरी लोगों के मन में सतत विषाक्त बीज बोए गए और इसमें उदारतापूर्वक उर्वरक डाले गए। आप जैसे जिन लोगों की जिम्मेदारी इन बीजारोपण तथा फसल को रोकना था वे इतिहास के प्राथमिक सीख के प्रति भी सजग नहीं थे; दुष्टों के साथ समझौते का केवल एक ही मतलब था बड़े दुष्ट का पालन-पोषण करना; प्रतिकूल वास्तविकता की अनदेखी का मतलब केवल इससे और अधिक उलझाना था; धौंस के आगे झुकने का केवल मतलब था अगले दिन कसाई को आमंत्रित करना। भयातुर प्रवृत्ति का इससे बेहतर ढंग से पोषण नहीं हो सकता था। दबंगई का इससे बेहतर परिणाम प्राप्त नहीं हो सकता था। उपद्रवियों को इससे अधिक लापरवाह और गैर निष्ठावान विरोधी नहीं मिल सकता था। क्या उनके लिए यह स्वाभाविक नहीं था कि और अधिक आक्रामक और भयावह रणनीति अपनाकर अधिक महत्त्वाकांक्षी बनें तथा अधिक दृश्यमान परिणाम प्राप्त करें।"[5] सरकार द्वार कश्मीर में पनप रही इन हिंसात्मक परिस्थितियों के प्रति उदासीनता और निष्क्रियता ने ही मूलतः उन परिस्थितियों को जन्म दिया और उसी के परिणाम स्वरूप 1990 की घटना घटित हुई।

क्षमा कौल की कहानियों में कश्मीरी अल्पसंख्यकों की वेदना, उनका दुखद इतिहास अपने ऐतिहासिक और समसामयिक परिस्थितियों आदि के साथ अपने सम्पूर्ण कलेवर में दर्ज है। क्षमा कौल ने अपनी 'पूर्वलोक' कहानी के माध्यम से कश्मीरी अल्पसंख्यकों के दुःख को प्रामाणिकता के साथ उकेर दिया है।

क्षमा कौल की कहानियों में कश्मीरी अल्पसंख्यकों की वेदना, उनका दुखद इतिहास अपने ऐतिहासिक और समसामयिक परिस्थितियों आदि के साथ अपने सम्पूर्ण कलेवर में दर्ज है। क्षमा कौल ने अपनी 'पूर्वलोक' कहानी के माध्यम से कश्मीरी अल्पसंख्यकों के दुःख को प्रामाणिकता के साथ उकेर दिया है। इस तथ्य से हम सभी भली-भाँति अवगत हैं कि उस समय कश्मीरी पंडितों को किस तरह की विवशता का सामना करना पड़ रहा था, वे अपनी आंखों के सामने अपना घर छिनते हुए देख रहे थे, जहाँ जीवन भर की पूंजी लगाकर एक संसार बसाया था, वह मात्र स्मृतियों में रह गया। 'पूर्वलोक' का 'प्रद्युम्न' जब अपनी पत्नी और माँ को अपने पुराने घर की स्थिति के बारे में बताता है तो उनकी स्थिति उन तमाम कश्मीरी हिंदुओं की विवशता का प्रतिनिधित्व करती परिलक्षित होती है- "--हाय... पचास हज़ार... पचास लाख भी कोई दे... तब भी मूल्य पूरा न पड़े... हे भगवान! ... क्षय कर दे उनका।' पत्नी विलाप करने लगी और माँ की आँखों को देख ऐसा लगने लगा कि अभी बाहर को फट कर जमीन पर आ गिरेंगी।"[6]

क्षमा कौल सिर्फ यही नहीं दिखाती कि हिन्दू विवश हैं तथा उग्रवादियों द्वारा उन्हें पलायन हेतु मजबूर किया गया। वह उस समय की एक स्याह हकीकत भी हमारे सामने लेकर आती हैं। वाकई तत्कालीन राजनीति भी प्रत्यक्ष व प्रकारांतर रूप से कश्मीरी हिंदुओं के प्रति अपनी संवेदनहीनता दिखा रही थी।

सत्ता लोलुप लोग किसी भी तरह से वोट बैंक में कमी नहीं देखना चाहते थे, यही वजह है कि घाटी में उस समय मुसलमानों को कोई भय नहीं था। वाकई उस समय तुष्टिकरण और धर्मनिरपेक्षता का चोला पहनकर जो राजनीति की जा रही थी, उसी के परिणामस्वरूप कश्मीरी हिंदुओं को अपने ही देश में अपनी जन्मभूमि को त्यागकर शरणार्थियों की भाँति रहना पड़ रहा था। घाटी में होने वाली इस भयावह मानवीय त्रासदी के कारणों में जो सत्ता का सहयोग था वह यकीनन गैर-मुस्लिम समुदाय के लोगों को विवश तथा घाटी के मुसलमानों को निडर करने में महती भूमिका निभा रहा था। क्षमा कौल बड़ी प्रामाणिकता के साथ तत्कालीन सत्ता के उस स्याह सच को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती हैं - "वैसे उसे डर काहे का मकान हथियाने में? किसी का (डर) नहीं। आर्मी का भी नहीं। जबकि कैम्प वहाँ पास में ही है, पर नहीं है उसका खौफ उन्हें। आर्मी के पास कुछ ताकत नहीं, दिखाने के दांत हैं। सेना के बहुत से अफसर हथियारों को पकड़ने का नाटक करते हैं। आतंकियों के सशस्त्र समर्पण की फिल्म दूरदर्शन के लिए बनाते हैं और फिर वही शस्त्र आतंकियों को ही वापस बेचते हैं। सेना के औचित्य और वास्तविक कर्म पर चिंतन करने वाले निस्सहाय सैनिक या तो अवसादग्रस्त हो जाते हैं या आत्मघात की शरण में जाते हैं। अपनी निरर्थकता एवं शस्त्रगत शास्त्र के अपमान को अपनी देह के साथ भस्म कर डालते हैं। यों चलता है खेल रक्षक और भक्षक का। दिल्ली की राजनीति ही यह करती है।"[7]

कहानी 'मानवाधिकार' में भी सरकार द्वारा किस प्रकार रिजर्व बैंक को विवश किया जा रहा है ताकि घाटी में जाली करंसी धड़ल्ले से उपयोग की जा सके, इसका चित्रण क्षमा कौल करती हैं- "आपको नहीं लगता कि जाली करंसी, जिसके जहर के घूँट पीने को हिंदुस्तान का वित्त मंत्रालय चुप चाप रिजर्व बैंक को विवश करता है, ताकि वोट सलामत रहें। मुसलमान खुश रहें।"[8]

कौल ने अपनी कहानियों में कश्मीरी पंडितों के अंदर की दहशत तथा घाटी के मुसलमानों के आतंक को यथार्थ के धरातल पर उतारते हुए हमारे समक्ष रखा है। अपनी कहानी 'गहरे कत्थई रंग का मखमली फिरन' में उन्होंने 'हिन्दू स्त्रियों की बीभत्स स्थिति', तथा कट्टरवाद को कुछ इस प्रकार दर्शाया है- "सभी मस्जिदों से घोषणा हुई थी कि काफिर जल्द-अज़-जल्द दफा हो जाएं। नहीं तो उनका क़त्लेआम होगा।"[9]

वाकई उस समय कश्मीरी हिंदुओं के मन में इतनी दहशत एवं भय घर कर चुका था कि उनके मन के भाव कुछ इस तरह थे - "चाहे वहाँ भीख मांगनी पड़े, मजदूरी करें, लाचारी और अभावों और यादों के समुद्र में डूब मरें, पर इस परधर्म की आत्मीय स्थली को त्याग देना धर्म है...।"[10]

अपनी जड़ों को छोड़कर पलायन को मजबूर, स्त्रियों के साथ जघन्य अपराध, युद्ध स्तर पर धर्मांतरण, पन्द्रह से पैंतीस वर्ष आयु के युवाओं का कत्ल, उस समय घाटी में इस प्रकार की सभी घटनाएं सामान्य थीं। हिंसा से लिपटी घाटी में जहाँ मुसलमानों को आज़ाद कश्मीर चाहिए था तो वहीं दूसरी ओर पलायन कर चुके कश्मीरी हिंदुओं को भी वापसी की आशा थी। क्षमा कौल ने अपनी कहानियों के माध्यम से कश्मीरी समाज के साहस, हौसले और संघर्ष को भी प्रमुखता से दिखाया है। निःसन्देह अधिकतर हिंदुओं को घाटी में उपजे कट्टरवाद, साम्प्रदायिक हिंसा से बचने के लिए पलायन करना पड़ा किन्तु यह उनकी कायरता नहीं थी अपितु जिजीविषा थी। अपनी जान बचाकर दोगुनी ताकत के साथ अपनी मातृभूमि में वापस लौटने का संकल्प उन्होंने लिया था। कौल की कहानी 'डरे हुए लोग' में जहाँ मंजूर अहमद जैसे लोग "फ़क़त आज़ादी" चाहते हैं तो वहीं कुमार, जिसने हिंसा को देखा है वह मंज़ूर के प्रत्युत्तर में कहता है, "पर हम नहीं चाहते, और कश्मीर हमारी मातृभूमि है...।"[11] कुमार के अंदर जो जिजीविषा एवं वापस लौटने का हौसला है, वह प्रत्येक कश्मीरी हिंदुओं के हृदय में था। वाकई कश्मीरी हिंदुओं ने कुछ खोया नहीं था, अपितु उनसे छीन लिया गया था। बंदूक की नोक पर, बमबारी करके, स्त्रियों के बलात्कर आदि अनेक प्रकार की प्रताड़ना से उनका सर्वस्व छीना गया था। इस संघर्ष ने उन्हें कमजोर नहीं बल्कि मजबूत बनाया और यही हौसला कुमार के माध्यम से हमें दिखाई देता है।

"हमारा तो कुछ नहीं खोया, वहाँ भी भारतीय थे, यहाँ भी अनुभवी गर्वीले भारतीय हैं। हमारा मसला है लौटना, वह तो लौटेंगे। जहाँ भी रहें, भारतीय होकर।"[12]

कश्मीर में मुस्लिम तुष्टिकरण की राजनीति के कारण वहाँ की अल्पसंख्यक समुदाय कश्मीरियत और भारतीय अस्मिता के साथ खड़े होते हैं। यही वैचारिक प्रतिबद्धता कश्मीर को भारत का अभिन्न हिस्सा बनाता है। परंतु "इस सन्दर्भ में सबसे पहले इस जलते सत्य से आँख मिलाना अवश्यक है कि 1990 के दशक में कश्मीर से कश्मीरी पंडितों का विस्थापन भारत विभाजन के बाद देश की सबसे बड़ी मानवीय त्रासदी है। विस्थापन साहित्य का लेखक कश्मीर के समकालीन राजनीतिक इतिहास की उन सच्चाइयों पर सीधे अपनी उंगली रखता है जिन्हें जाने बिना इस त्रासदी के वास्तविक कारणों को समझना सम्भव नहीं, लेकिन जिन्हें हमेशा छिपाया जाता रहा है। वह इस ओर इंगित करता है कि कैसे विभाजन से भी बहुत पहले मुस्लिम अलगाववाद की राजनीति की जड़ें कश्मीर में ज़ोर पकड़ चुकी थीं और घाटी के लगभग सभी छोटे-बड़े राजनीतिज्ञ, जिनमें शेख अब्दुल्ला भी शामिल थे।"[13] कश्मीर की अपनी अस्मिता कश्मीरियत का इस्लामीकरण किया, वोट आधारित इस्लामिक भावना के अनुचित, असीमित और अनियंत्रित उभार ने राष्ट्रीय भावना को इस्लाम विरोधी घोषित करना आरंभ कर दिया। पाकिस्तान प्रेम के बीज बोने आरंभ कर दिए गए। ऐसे हालातों में जो पड़ोसी अल्पसंख्यक कश्मीरियत के साथ एक समान पहनावे, रहन-सहन, बोली और खान-पान के साथ रहते थे, जिनमें अन्तर देख पाना मुश्किल था, वही अब दो अलग-अलग देश के नागरिक के समान एक-दूसरे के सामने थे।

कश्मीर में बढ़ते इस वैमनस्य की स्थितियों के खिलाफ़ कश्मीरी पंडितों ने जिस हौसले के साथ जिहादियों से संघर्ष किया उसे 'उन्नीस जनवरी के बाद' नामक कहानी में देखा जा सकता है। जहाँ अपने पूरे परिवार को सुरक्षित जम्मू छोड़ने के बाद वापस जब युवक अपने काम पर आता है तो उसका ही मित्र फारूक उर्फ मुन्ना जो दिन में उसके सामने जिहादियों की भरसक निंदा करता है किंतु असल में वह हिजबुल मुजाहिदीन के दल का सदस्य था। जब आतंकियों ने युवक को दबोचा था उस समय वह टैक्सी वाला, जो उसे अपना मित्र लगता था वह भी उन्हीं के दल में था। «वे भयानक अमानवीय थे, तथा मेरे गिड़गिड़ाने के पूरे मज़े ले रहे थे। उनमें से एक को मैं साफ पहचान सा गया। वह वही था टैक्सी ड्राइवर मुन्ना अर्थात मेरा मित्र। रफीक।"[14]

> ***क्षमा कौल को कथा संसार कश्मीरी पंडितों की पलायन की पीड़ा, पलायन पश्चात उपजे जीवन-यापन के संकटों यथा गरीबी, रोजगार, बच्चों की शिक्षा इत्यादि भी ठीक प्रकार से न हो पाना। यकीनन जो दुःख एवं पीड़ा उस समय कश्मीरी हिंदुओ ने भोगी वह आज भी नासूर बनी हुई है और यही कश्मीर की वादियों का कटु सत्य भी है।***

वाकई, यह सच्चाई की घाटी में आतंकी किस तरह कभी अतिशय मानवता का प्रदर्शन करते हुए हिंदुओं को मित्रता के जाल में फँसाते तथा वक्त आने पर गला भी उतनी ही क्रूरता से काट देते। कितनी स्त्रियों को बंदी बनाकर प्रतिदिन उनके साथ जानवरों की भाँति व्यवहार करते। इस कहानी में अनेक प्रताड़नाओं को झेलते हुए तथा क्रूरता की सारी पराकाष्ठाओं से गुजरते हुए अंत में युवक की जिजीविषा, संघर्षों से लड़ने वाला उसका हौसला उसे बचा लेता है।

कश्मीरी जीवन का यही दुखद यथार्थ उनकी 'न्यूज लेटर', 'वबा', 'जोजीला' तथा 'गर्भ-गृह' जैसी कहानियों में अंकित है। उनका पूरा कथा संसार कश्मीरी पंडितों की पलायन की पीड़ा, पलायन पश्चात उपजे जीवन-यापन के संकटों यथा गरीबी, रोजगार, बच्चों की शिक्षा इत्यादि भी ठीक प्रकार से न हो पाना। यकीनन जो दुःख एवं पीड़ा उस समय कश्मीरी हिंदुओ ने भोगी वह आज भी नासूर बनी हुई है और यही कश्मीर की वादियों का कटु सत्य भी है।

स्वतंत्रता के बाद तत्कालीन सत्ता को जिन सबसे बड़ी चुनौतियों से निपटना चाहिए था, सरकार उन चुनौतियों से लड़ी ही नहीं, अपितु उनके सामने घुटने टेक दिए। विभाजन के समय जो जिहाद के परिणामस्वरूप मानवीय मूल्यों की वीभत्स त्रासदी हमने देखी वह आगे भी घाटी में हमें दिखाई देती रही। उन्नीस जनवरी उन्नीस सौ नब्बे को जो हिंसा घाटी में हुई उसके बाद निरंतर हालात कभी सामान्य नहीं हो पाए। अनेक कश्मीरी हिंदुओं का नृशंस संहार, बच्चियों के साथ सामूहिक बलात्कार आदि अनेक प्रलयंकारी घटनाएं घटीं। विडम्बना यह हुई कि इस साम्प्रदायिक आतंक से उत्पन्न मानवीय संत्रास के विरुद्ध जो विमर्श साहित्य में बनना चाहिए था, असल में वह हमें नहीं दिखाई देता है।

क्षमा कौल की कहानियाँ एवं उनका सम्पूर्ण साहित्य आतंक के इस विमर्श पर तीव्रता से प्रकाश डालता है। इनकी कहानियों के अध्ययन से हमें ऐसे चित्र परिलक्षित होते हैं जो निर्वासन के अनकहे कठोर किस्सों को समेटे हुए हैं। प्रत्येक कहानी साम्प्रदायिक हिंसा की विभीषिका से लड़ते-जूझते लोगों की विवशता, एकाकीपन, बेघरी के संत्रास में जूझते बच्चों तथा बुजुर्गों की मरणांतक पीड़ा का साक्षात्कार हमें करवाती हैं।

क्षमा कौल की कहानियों में आतंकवाद की समस्या, कश्मीरी अल्पसंख्यों के अस्तित्व और अस्मिता की समस्या, राहत शिविरों की समस्या, भूलते स्मृतियों का दंश और अपनी जड़ों से दूर रहने की पीड़ा परिलक्षित होती है। उनकी कहानियों में कश्मीरी समाज की चेतना और स्त्रियों के प्रश्न भी लगातार सामने आते हैं। निर्वासन का दंश स्त्रियों के लिए ज्यादा पीड़ादायक और यातनापूर्ण स्थिति निर्मित करती है। क्षमा कौल की कहानियाँ चेहरे पर मासूम सी मुस्कुराहट, आँखों में उम्मीद की लौ और बातों में पीड़ा की अनन्त गहराई लिए हुए ऐसे कश्मीरी समुदाय की मार्मिक प्रस्तुति हैं, जिसे घाटी में धार्मिक आतंकवाद के सामने तिल-तिल मरने को छोड़ दिया गया।

कौल की कहानियों के संवाद इतने प्रामाणिक प्रतीत होते हैं मानो पाठक घाटी में हो रही हिंसा को नग्न आँखों से स्वयं ही देख एवं महसूस कर रहा हो। कुल मिलाकर क्षमा कौल की कहानियों में कश्मीरी पंडितों के जीवन का सम्पूर्ण यथार्थ प्रामाणिकता के साथ समस्त पहलुओं के समेटे हुए हमारे समक्ष रखता है।

सन्दर्भ

1. उदास लोग, क्षमा कौल, प्रथम संस्करण-2023, प्रलेख प्रकाशन, मुम्बई, पृष्ठ संख्या-18
2. हिन्दी कहानी का इतिहास (भाग-2), गोपाल राय, प्रथम संस्करण-2014, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या-25
3. वही, पृष्ठ संख्या 485
4. विस्थापन की त्रासदी और हिन्दी साहित्य: सन्दर्भ कश्मीर, डॉ. शशि शेखर तोपखानी, साहित्य भारती, जुलाई-सितंबर अंक, 2018, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृष्ठ संख्या-18
5. अशांत काश्मीर, चुनौतियाँ और समाधान, जगमोहन, हिंदी अनुवाद-ओ. पी. झा, एलाईड पब्लिशर्स लिमिटेड
6. उन्नीस जनवरी के बाद, क्षमा कौल, साहित्य भंडार प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021, प्रयागराज, पृष्ठ संख्या-10
7. वही, पृष्ठ संख्या- 12
8. वही, पृष्ठ संख्या- 20
9. वही, पृष्ठ संख्या- 28
10. वही, पृष्ठ संख्या- 30
11. वही, पृष्ठ संख्या- 42
12. वही, पृष्ठ संख्या- 41
13. विस्थापन की त्रासदी और हिन्दी साहित्य: सन्दर्भ कश्मीर, डॉ. शशि शेखर तोपखानी, साहित्य भारती, जुलाई-सितंबर अंक, 2018, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृष्ठ संख्या-7-8
14. उन्नीस जनवरी के बाद, क्षमा कौल, साहित्य भंडार प्रकाशन, प्रथम संस्करण-2021, प्रयागराज, पृष्ठ संख्या- 91

(सहायक प्राध्यापक
हिंदी विभाग
सत्यवती महाविद्यालय (सांध्य)
दिल्ली विश्वविद्यालय)

दक्षिण पूर्व एशिया में शैव संस्कृति का प्रसार

— डॉ अर्हणा लोचन

यह अध्ययन दक्षिण-पूर्व एशिया में शैव संस्कृति के ऐतिहासिक प्रसार और उसके स्थानीय सांस्कृतिक अनुकूलन की प्रक्रिया को विश्लेषित करता है। लेख में जावा (इंडोनेशिया), कंबोडिया और चम्पा (वियतनाम) जैसे क्षेत्रों में शैव सम्प्रदायों — विशेष रूप से पाशुपत, आगमिक और सिद्धांत परंपराओं — की उपस्थिति और प्रभाव का विश्लेषण किया गया है। भद्रेश्वर और हरिहर जैसे देवस्वरूपों की प्रतिष्ठा तथा शिवलिंगोपासना की परंपरा को ऐतिहासिक अभिलेखों, मूर्तिकला और मंदिर स्थापत्य के माध्यम से रेखांकित किया गया है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों और अनुष्ठानों से लेकर स्थानीय वास्तु एवं कला शैलियों तक, शैव संस्कृति की उपस्थिति ने दक्षिण-पूर्व एशिया की धार्मिक विचारधारा और राजनैतिक संरचना को गहराई से प्रभावित किया। भद्रेश्वर, विशेष रूप से चम्पा और ख्मेर साम्राज्य में एक प्रमुख शिवस्वरूप के रूप में पूजित रहे, जबकि हरिहर (शिव-विष्णु समन्वय रूप) की मूर्तियाँ ख्मेर मूर्तिकला की एक अद्वितीय परंपरा को दर्शाती हैं। यह शोध भारतीय और स्थानीय धार्मिक-सांस्कृतिक संवाद की एक सजीव मिसाल है, जो दक्षिण-पूर्व एशिया में भारतीय तत्वों के आत्मसात और नवसृजन की प्रक्रियाओं को उजागर करता है।

भारतीय संस्कृति ने भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया के बीच सफल सांस्कृतिक संबंधों में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस क्षेत्र में हिंदू धर्म और संस्कृति का औपचारिक परिचय कंबोडिया में फुनान साम्राज्य के युग के दौरान हुआ था। इसके अतिरिक्त, यह स्पष्ट है कि जब से हिंदू संस्कृति ने पहली बार दक्षिण-पूर्व एशिया के साथ संपर्क स्थापित किया है, तब से शैव संस्कृति ने इस क्षेत्र में अपनी मजबूत उपस्थिति स्थापित कर ली है। शैव संस्कृति हिंदू धर्म के ढांचे के भीतर एक महत्वपूर्ण विश्वास प्रणाली है और भारत में प्रचलित है। भारत, विशेष रूप से इसके विद्वानों, और दक्षिण पूर्व एशिया की राजनीतिक संस्थाओं के बीच सांस्कृतिक और धार्मिक संबंधों ने धार्मिक विचारों के आदान-प्रदान को सुगम बनाया, जिसने उस क्षेत्र में शैव

प्रमबनान मंदिर समूह, योग्यकार्ता, इंडोनेशिया

संस्कृति को व्यापक रूप से अपनाने में योगदान दिया।

शैव संस्कृति दक्षिण पूर्वीय एशिया के लगभग हर राज्य में प्रभावशाली रहा है- बर्मा से बोरनियो तक हमें इस सन्दर्भ में कई सबूत प्राप्त होते हैं। परंतु कुछ राज्य में यह इस प्रकार से घुलमिल गया की उस राज्य के समरूपता और शैव संस्कृति को एक दूसरे से पृथक करना असंभव है। भारत में लगभग सातवीं शताब्दी ईस्वी से हमें कई शैव संप्रदाय उत्तपन होते हुए दिखाई देते हैं। इन उप-सम्प्रदाओं को शिव की पूजा के विभिन्न रूपों और कर्मकांडों की प्रक्रियाओं के अनुसार विभाजित किया गया था। इनमें से तीन मुख्य खंड थे-

1. सिद्धांत संप्रदाय- जो साधारण प्रक्रिया यानि पुराणों के अनुसार शिवोपासना करते थे।
2. आगमिक शैव संप्रदाय - तमिल शैव, या सुदूर दक्षिण के शैव संप्रदाय; लिंगायत, या वीरशैव जो मुख्य रूप से कर्नाटक क्षेत्र में फले-फूले; और कश्मीर शैव।
3. पाशुपत सम्प्रदाय और इसकी शाखाएँ- कपालिका और कालमुख।[1]

दक्षिण पूर्वी एशिया में ऊपर दिए गए सभी सम्प्रदायों में विशद रूप से पाए जाते हैं। जावा, ख्मेर व चम समाज में शैव संस्कृति का वैभव प्रमुख रूप से देखा गया है। इन तीन राज्यों में जावा में तंत्र-शैव परंपरा[2] और चम देश व कंबोडिया में भद्रेश्वर एवं पाशुपत[3] प्रथा दीर्घस्थायी हैं। यह जानकारी हमें इन देशों में पाए जाने वाले कई पुरातात्विक प्रमाण जैसे की अभिलेखों, शिव मंदिरों, शिवलिङ्गं एवं शिव प्रतिमाओ से एवं साहित्यिक माध्यमों से मिलते हैं।

जावा में शैव संस्कृति का सबसे बड़ा प्रतीक है **प्रमबनान मंदिरों** का भवन समूह। यह मंदिर परिसर मध्य जावा में स्थित है जिसका निर्माण नौवीं शताब्दी ईस्वी में **रकाई पिकातन** नामक राजा ने शुरू किया था। बाद में राजा लोकपाल और संजय वंश के राजा बालीतुंग महासम्भू ने मंदिर का विस्तार किया। इतिहासकार 856 ईस्वी के शिवगृह अभिलेख को उद्धरण करते हुए हमें यह जानकारी देते हैं की प्रमबनान मंदिर का नाम शिवगृह या शिवालय[4] था जो भगवान शिव को समर्पित था[5]। मंदिर को पवित्र पर्वत मेरु, जो भगवान शिव का निवास स्थान भी है[6], के ऊपर नियत किया गया है। संपूर्ण मंदिर परिसर हिंदू ब्रह्मांड के धारणा व वास्तु शास्त्र के नियमों के अनुसार निर्माण किया गया है। कभी इस परिसर में कम से कम 240 मंदिर हुआ करते थे जिसमें से आज भी शिव को समर्प्रित चंडी (मंदिर) **लोरो जोंगरांग** सबसे विशाल है।[7]

इसके अतिरिक्त जावा में शैव संस्कृति के फैलाव और प्रभाव के बारे में वहाँ के शास्त्रों से भी पता चलता है। बाली और जावा के **तुतुर** अथवा **तत्त्व** शास्त्र समूह। मजपहित महराज्य के पतन के समय जावा से ये शास्त्र जावा से बाली द्वीप लाए गए। आज कई तुतुर शास्त्र भोजपत्र पांडुलिपियां अपने असली रूप में संरक्षित हैं और कुछ रोमन लिपि में अनुवाद भी किए गए हैं। पाया गया है की तुतुर ग्रंथ विचारवान प्रकृति के हैं, ज्यादातर शैव पृष्ठभूमि के हैं (लेकिन कुछ बौद्ध ग्रंथ भी ज्ञात हैं)। ऐसा लगता है कि उनके लेखकों की मुख्य व्यस्तता व्यावहारिक नियमावली का निर्माण रही है। तुतुर अक्सर शैव सोटेरियोलॉजी[8] से संबंधित हैं, ब्रह्मांड विज्ञान, सूक्ष्म-स्थूल ब्रह्मांडीय वर्गीकरण, योग और अलौकिक शक्तियों का सिद्धांत, मंत्र, प्रकृति पूर्ण वास्तविकता की प्रकृति विचारवान और शिव के विभिन्न पहलुओं आदि के बारे में ये हमें जानकारी देते हैं।[9] इन ग्रंथों को आम तौर पर भगवान (शिव, भट्टार, आदि) और एक अन्य वार्ताकार के बीच एक संवाद के रूप में व्यवस्थित किया जाता है, आमतौर पर बृहस्पति, भगवान के पुत्र कुमार या देवी (शक्ति) जैसे देवता।[10]

ज्ञानसिद्धांत, सं ह्याँ तत्त्वज्ञान, स्वयंभुवसूत्रसंग्रह, निश्वासतत्त्वसंहिता, सारधात्रीशतीकालोत्तारागम, भुवनकोश, ब्रह्मयकोट विध शास्त्र, शिवासन, तुतुर आध्यात्मिक, तुतुर कमोक्षण इत्यादि शैव तुतुर ग्रंथों के कुछ नाम हैं जो मलय/जावा में शैव संस्कृति का अस्तित्व और परंपरा का प्रमाण हैं।

कंबोडिया (कंबोज) एवं वियतनाम (चम्पा) महाराज्य-

दक्षिण पूर्वी एशिया के कंबोडिया एवं चम्पा महाराज्यों में जावा के ही तरह या उससे भी अत्याधिक प्रभाव शैव संस्कृति का दिखता है। पाँचवीं से

आठवीं शताब्दी के ख्मेर क्षेत्रों और आंगकोर के एकीकृत साम्राज्य जो चौदहवीं तक बने रहे, यह दिखाते हैं कि पूरे समय में धर्म में भारतीय मूल के तीन अन्य धर्म शामिल थे: शैववाद, भागवतों का पंचरात्रिक वैष्णववाद, और महायान बौद्ध धर्म जिसमें अनुष्ठान और ध्यान की प्रणाली शामिल है जिसे मन्त्रनाय, मंत्रायण या वजरायण के रूप में जाना जाता है। तीनों अधिकांश भाग के लिए सामंजस्यपूर्ण रूप से सह-अस्तित्व में थे लेकिन शैववाद प्रमुख था।[11]

चम्पा की सबसे प्राचीन राजधानी चा-कीउ (Tra-Kieu) में खुदाई से शैव मंदिरों और बा-रिलीफ (*bas relief*) के रूप में शैव प्रभाव के पर्याप्त सबूत सामने आए हैं। उनके वैभव के दिनों में चम शैव थे, शिव, शक्ति, और उनके दो पुत्र गणेश और स्कंद, देवताओं में प्रमुख माने जाते थे व उनकी पूजा की जाती थी।[12] इस संबंध में हमे कई शिलालेख के साक्ष्य भी मिलते हैं, जो प्राचीन चम्पा के धार्मिक विश्वासों और प्रथाओं पर प्रकाश डालते हैं।

आगामी खंड में, हम दक्षिण-पूर्व एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित शैव परंपराओं पर संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

पाशुपत धर्म

कई भारतीय व बाहर के शिलालेखों एवं अभिलेखों में ये पाया गया है की शैव संस्कृति के पाशुपत संप्रदाय उत्तर भारत से दक्षिण भारत और आगे दक्षिण पूर्वी एशिया में फैले। विदुषी स्वाती चेमबुरकर व शिवानी कपूर ने अपने लेख- The Pasupata Sect in Ancient Cambodia and Champa (in Vibrancy in Stones) में कंबोडिया एवं वियतनाम के मिश्रित राजनैतिक और साँसकारिक संबंधों को समझाते हुए इन देशों में पाशुपत धर्म के प्रभाव के बारे हमे जानकारी दी है। पूर्वर्ती-आंगकोर और आंगकोरियाई दोनों ही समय से कम से कम 6 अभिलेख मिलते हैं जो की कंबोडिया में पाशुपत धर्म के होने का प्रमाण देते हैं।[13]

सबसे पुराने कंबोडियन शिलालेखों में से एक K. 604 स्पष्ट रूप से बताता है कि कैसे एक पाशुपत ब्राह्मण जिसे राजा द्वारा भगवान की पूजा के लिए नियुक्त किया जाना है, वह नींव का लाभार्थी होना चाहिए। पाशुपतों ने इंद्रवर्मन I (877-889 ईस्वी) और यशोवर्मन I (889-910 ईस्वी) के शासनकाल के दौरान एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई होगी। यशोवर्मन I का प्रसात प्रेई शिलालेख स्पष्ट रूप से शैव और पाशुपत आचार्य और उनके सैद्धांतिक अंतर (शैव-पशुपत-ज्ञान) को अलग करता है।

शैव संस्कृति फुनान के समय से ही ख्मेर धरती में प्रचलित रहा है। उद्धारण है अनेक पूर्ववृति आंगकोर और आंगकोर समय के पुण्यस्थान और शैव स्थल जिनके नाम भारत के पूजयस्थलों पर आधारित है। जैसे की अमरेश्वर, प्रभास, सिद्धेश्वर। इतिहासकार माइकल विक्री ने इन स्थलों के नाम के अंत में 'ईश्वर' शब्द के इस्तेमाल होने पर यह निष्कर्ष निकाला है की यह पुणयस्थल पाशुपत के आधीन था।[14] (Vickery 1998, 405-6)

भद्रेश्वर

शिव के अनेकों रूप में से एक भद्रेश्वर हैं। हालाँकि यह ध्यान योग्य है कि भद्रेश्वर शब्द का उपयोग वेदों में नहीं मिलता है। भद्रेश्वर शब्द का पहला वर्णन हमें स्कन्द पुराण में मिलता है जहां भद्रेश्वर नामक स्थल को शिव से जोड़ा गया है। स्कन्द पुराण में देवी (शिव कि अर्धांगिनी) भद्रेश्वरी के रूप में ख्यात हैं। इसी के साथ शिव के परिचारकों के नाम भी भद्र से जुड़े हुए हैं जैसे की वीरभद्र, विभद्रक, महाभद्र, शालीभद्र, भद्रक इत्यादि।[15] वामन पुराण में भी भद्रेश्वर का वर्णन आता है। वामन पुराण के 46 अध्याय में भद्रेश्वर को हिमालय के उस पार्थिवलिंग से जोड़ा गया है जिसे देवी दुर्गा ने पूजा था।[16] इन्हीं कारणों से भद्रेश्वर का नाम शैव पंथ में शिव के एक रूप में अपनाया गया।

शिव-भद्रेश्वर दक्षिण पूर्वी एशिया में लंबे समय तक प्रमुख प्रतीत होते हैं। मूर्तिकला में हमें भगवान भद्रेश्वर के कम ही उदाहरण मिलते हैं परंतु चम्पा व ख्मेर के अभिलेखों में भद्रेश्वर हर जगह पाए जाते हैं। शायद भद्रेश्वर के रूप में ज्ञात होने के बाद भी शिव जी का लिंग रूप में ही उपासना प्रचलित रही। इतिहासकार रमेशचन्द्र मजूमदार का मानना है कि चम (चम्पा) राजाओं ने शिव लिंग का नाम ही भद्रेश्वर रख दिया था।* भगवान भद्रेश्वर का प्रभाव चम और ख्मेर के वंश के बाद वंश में देखे जा सकते हैं। भद्रेश्वर का सबसे पहला उदाहरण **मी-सन मंदिर** श्रृंखला में है जो अपने समय में चम्पा राज्य का एक महत्वपूर्ण राजधानी था।

मी-सन के मंदिर सभी भगवान शिव को अर्पित थे, विशेष रूप से भगवान भद्रेश्वर को। इस स्थान में शिव लिंगों के भी कई अवशेष प्राप्त हुए हैं, और आजकल के चल रहे पुरातात्विक खुदाई में भी हमे शिव लिंग ही प्राप्त होते हैं।[17] मी-सन में ही स्थित ए-1 (A-1) स्थल में पाए गए C-72 अभिलेख में, जो की इस संग्रह का सबसे पुराना अभिलेख है, वहाँ के भद्रेश्वर मंदिर के नींव में स्थापित है। इस अभिलेख में लिखा हुआ है कि मी-सन ही भगवान भद्रेश्वर का वास्तविक स्थान है और इसे राज्य भद्रेश्वर ने निर्माण किया था।[18] दूसरा अभिलेख (C-73) हमे पाँचवी शताब्दी ईस्वी में भद्रवर्मन द्वारा बनाया गया यह मंदिर, राजा रुद्रवर्मन के समय, आग में ध्वस्त हो गया था। मंदिर को बाद में रुद्रवर्मन के बेटे शंभुवर्मन ने पुनर्निमित किया था और इसे भगवान शंभू-भद्रेश्वर को समर्पित किया था।[19]

इंद्रवर्मन द्वितीय एक धर्मनिष्ठ बौद्ध थे। शक युग 797 (875 ईस्वी) के उनके डोंग डुओंग (Dông Duong) अभिलेख की प्रारंभिक पंक्तियाँ लक्ष्मींद्र-लोकेश्वर के नमस्कार के साथ होती हैं, लेकिन पूरा अभिलेख फिर भद्रेश्वर का विस्तृत वर्णन करता है। इस आख्यान में, इंद्रवर्मन द्वितीय जानबूझकर 400 ईस्वी के आस-पास भद्रेश्वर मंदिर की स्थापना, भद्रवर्मन प्रथम के शासन के समय, आग से इसके विनाश, और शंभुवर्मन द्वारा बहुत से जीर्णोद्धार की उपेक्षा करता प्रतीत होता है। इसके बजाय राजा चंपा की भूमि पर भद्रेश्वर लिंग की स्थापना में शिव, भृगु और उरोजा से जुड़ी एक कहानी का उल्लेख करता है।[20]

लाओस देश में भी भद्रेश्वर की प्रवृत्ति ख्मेर साम्राज्य के द्वारा फैली। वट फू पूरे दक्षिण पूर्वी एशिया में शैव संस्कृति का सबसे बड़ा स्थल माना जाता है। वट फू स्थल में भद्रेश्वर की उपस्थिति हमे चेन-ला (Chenla/Zhenla) के समय से दिखती है। चीनी साहित्यिक स्त्रोत में पर्वत लिंग-किया-पो-पो (Ling-kia-po-p'o) पर स्थित एक मंदिर है जो पो-तो-ली (P'o-to-li) को समर्पित है। माइकल विकेरी के अनुसार चीनी भाषा में वह भगवान भद्रेश्वर ही हैं।[21] फुनान साम्राज्य ने तोनले-साप (Tonle Sap) के पास के क्षेत्र पर कब्जा कर लिया था। इस समय (पहली शताब्दी ईस्वी) फुनान के ऊपर, चम ने मेकांग घाटी पर, वर्तमान क्रांग स्टंग ट्रेंग के नीचे एक बिंदु से लेकर नदी के मुहाने तक कब्जा कर लिया था। ख्मेर किंवदंतियों का कहना है कि उन्होंने चम से भूमि पर विजय प्राप्त की और कंबोडिया का सबसे पुराना ज्ञात ख्मेर मंदिर वट फू का इस क्षेत्र में भद्रेश्वर को समर्पित है, जो चम लोगों के संरक्षक देव हैं।[22]

महाराज सूर्यवर्मन द्वित्य के समय भी भद्रेश्वर की वट-फू में उपस्थिति दिखाई देती है। सूर्यवर्मन द्वित्य के समय अभिलेखों में विक्रांत परिवार में जन्में विद्वान को भद्रेश्वर स्थान का भगवन व प्रमुख 'होतार' बनने का वर्णन है। इस भद्रेश्वर मंदिर में उन्होंने हरिहर की कांस्य मूर्ति को स्थापित किया था। लिंगपर्वत पर उन्होंने देवी भद्रेश्वर और विष्णु की भी मूर्तियाँ स्थापित की। साथ ही तीन जलाशय भी खुदवाये जिनका नाम भद्रेश्वराल्य रखा।[23]

इसी प्राकार से कंबोडिया के आंगकोर वट के भवन समूह में भी भद्रेश्वर पाए जाते हैं। हरिहरालय शहर के प्रसात कंडोल डोम, कॉम्पोंग थोम के समीप प्रसात ख्लेयांग, प्रसात अमपिल रोलोम (स्टोएँग जिला में स्थित), पूर्वी मेबॉन, प्रे रूप, कोक रोसय, बेंग मिलिया के उत्तर में स्थित प्रसात त्रापिएंग, कॉम्पोंग चम जिला के प्रेय: नान मंदिर, प्रसात प्रेय: को मंदिरों के भंडार में से कुछ नाम है जो भगवान भद्रेश्वर को अर्पित हैं।

हरिहर

हरिहर, एक समग्र देवता हैं जो आमतौर पर प्राचीन भारतीय और दक्षिण पूर्व एशियाई कला में विष्णु (हरि) के गुणों के साथ बाईं ओर और शिव (हर) के गुणों के साथ दाहिने हिस्से के बीच एक सख्त द्विपक्षीय विभाजन की विशेषता है। हरिहर छवियों के दक्षिण पूर्व एशियाई प्रतीक, विशेष रूप से हरिहर की ख्मेर मूर्तियों में हमेशा चार भुजाएँ होती हैं और सिर का एक ऊर्ध्वाधर सीमांकन दो 'आधे-चेहरे' में होता है, ताकि सिर का दाहिना भाग शिव के विस्तृत रूप से उलझे हुए जटाएँ (जटामुकुट) से ऊँचा हो और बाईं ओर विष्णु के लम्बे बेलनाकार कीर्ति-मुकुट से ढका हुआ है।

एक मानवरूपी रूप में शिव और विष्णु को एकजुट करके, हरिहर की ख्मेर छवियों के एकाग्रता के लिए एक दिव्य अनुरूप के रूप में कार्य किया।[24]

हरिहर की मूर्तियाँ दक्षिण पूर्वी एशिया में ज्यादातर ख्मेर राज्य में ही पाई गईं हैं। हालाँकि कुछ एकाकी प्रतिमा चम्पा साम्राज्य में भी देखने को मिलती हैं परंतु कंबोडिया के हरिहर संग्रह के सामने वह कुछ नहीं हैं। कंबोडिया में हरिहर की मूर्तियों के सबूत पूर्व आंगकोर और आंगकोर दोनों ही समय में मिलते हैं। ख्मेर सामाज में हरिहर की उपासना और स्तवन के बारे में जानकारी हमे अभिलेखों से मिलती है। पूर्व आंगकोर के समय में हमे प्रसात फुम प्रसात के एक अभिलेख में (K.145/706 ईस्वी) जो भगवान शंकर-नारायण (हरिहर) को चढ़ाए गए चढ़ावे को दर्ज करता है, संभवतः अभयारण्य में निहित छवि है। इस प्रकार, यह साल 706 के आसपास बना एक हरिहर है जो संभवतः सबसे सुरक्षित रूप से पूर्व-अंगकोरियन मूर्तिकला है।[25]

वास्तव में ईषानवर्मन और हरिहर के बीच, (वट चक्रेत (के. 60/626-7) के दिनांकित संस्कृत शिलालेख में दक्षिणी कंबोडिया में बा फ्नोम के आसपास से), एक ठोस कड़ी देखा गया है। यह ईषानवर्मन के अधीन एक स्थानीय शासक द्वारा हरिहर की एक मूर्ति के अभिषेक को उल्लेखन करता है, जिसने अपनी महिमा बढ़ाने के लिए और ताम्रपुरा के गांव या कस्बे पर एक सैन्य जीत की स्मृति में छवि बनाई थी।[26] हालांकि, ईषानवर्मन और उनके तत्काल उत्तराधिकारियों की अवधि के दौरान ही हरिहर की पहली छवियां और पुरालेखीय उल्लेख दिखाई देते हैं। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, इनमें से कम से कम चार शिलालेख ईषानवर्मन प्रथम के लगभग बीस साल के शासनकाल के हैं। इसी तरह, हरिहर की कम से कम तीन छवियां सातवीं शताब्दी की प्रतीत होती हैं, जो शायद हरिहर की सबसे पुरानी मौजूदा ख्मेर छवि है। हरिहर सदियों से ख्मेर राजाओं को दी गई प्रतीकात्मक शक्ति को दर्शाता है।

लिंगोपासना परम्परा

शिवलिंग और योनी का प्रतिनिधित्व पूरे दक्षिण पूर्व एशिया में पाया जाता है, विशेष रूप से ख्मेर साम्राज्य की कला और वास्तुकला में। उदाहरण के लिए,

यह विशिष्ट वस्तु 1990 के दशक में नोम दा की तलहटी में स्थित एक शिवालय में खोजी गई थी। इसके चारों कोनों पर वज्र (ऊपरी बाईं ओर), शंख (दाईं ओर), त्रिशूल (निचली दाईं ओर), और चक्र (बाईं ओर) के प्रतीक उत्कीर्ण हैं। चूंकि शंख और चक्र सामान्यतः विष्णु से, और त्रिशूल शिव से जुड़े होते हैं, यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि वज्र, जो प्रायः इंद्र से संबंधित माना जाता है, इस संदर्भ में शिव का प्रतीक हो। यदि ऐसा है, तो यह वस्तु हरिहर (विष्णु और शिव का संयुक्त रूप) का संकेत देती प्रतीत होती है। © अर्हणा लोचन

आंगकोर वट, ख्मेर साम्राज्य की सबसे बड़ी वास्तुशिल्प उपलब्धियों में से एक हैं, इसकी परम्पराएँ वैष्णववाद, शैववाद और बौद्ध धर्म से उधार लेती हैं। यह शुरुआत में राजा के संरक्षक भगवान विष्णु के लिए बनाया गया था। हालांकि, तथ्य यह है कि केंद्रीय टॉवर के भीतर एक शिवलिंग सहित कई शैव प्रतीक पाए गए हैं, जो उस समय के दौरान इस धर्म के महत्व का संकेत है (हांग, 2010)। ख्मेर राजाओं ने भी अपनी शक्ति को वैध बनाने के लिए शिवलिंग का इस्तेमाल किया, जो अक्सर खुद को 'देव-राज' के रूप में प्रस्तुत करते थे।

सातवीं शताब्दी ईस्वी में कंबोडिया में लिंग पूजा का प्रचलन था। राजा भववर्मन श्री गंभीरेश्वर के नाम से जाने वाले शिवलिंग की पूजा करते थे, भद्रेश्वर या केदारेश्वर के नाम भी कुछ शिवलिंगों को दिए गए था। एक कट्टर अनुयायी और शिव के उत्साही भक्त के रूप में उन्होंने कम से कम चार शिवलिंग की स्थापना की, जिनमें से अंतिम का नाम त्रयंबक था। अपने बड़े भाई राजेंद्रवर्मन की धार्मिक योग्यता के लिए, राजा जयवर्मन ने एक शिवलिंग स्थापित किया, जैसा कि प्रसात दमरे कि शिलालेख में वर्णित है।[27]

चम देश चम्पा में भी लिंगोपासना के कई उदाहरण सामने आते हैं। ख्मेर राज्यों के तरह ही चम राजाओं ने भी अपने औचित्यपूर्णता को शिव की आराधना के द्वारा पूर्ण करते थे। ***कलान*** (मंदिर) का गर्भगृह एक संकीर्ण, सीमित स्थान था।

यह मंदिर का सबसे पवित्र हिस्सा था, जहां गर्भगृह के बिल्कुल केंद्र में भगवान का प्रतिनिधित्व या एक शिवलिंग व योनी एक चौकोर आसन पर स्थापित किया गया था। पूजा की वस्तु को एक योनी आधार पर रखा गया था, जिसका स्नान द्रोणि उत्तर की ओर उन्मुख थाः इस आधार का उपयोग भगवान के स्नान के समारोह के दौरान उपयोग किए जाने वाले पवित्र जल को निकालने के लिए किया जाता था।

समारोहों के दौरान, शिवलिंग को धातु मिश्र - सोने या चांदी से बने एक कोष के अंदर ढँका जाता था, जिस पर शिव के सिर (चतुरमुखलिंग/एकमुखलिंग) की एक छवि जुड़ी थी। शिव मुखलिंगों के ऐसे कई धातु-मिश्र कोष हाल के वर्षों में खोजे गए हैं, वे चंपा कलात्मक रचना की उत्कृष्ट कृतियाँ हैं। बलुआ पत्थर से बने एकमुखलिंग की पूजा आज भी **पो कलौंग गरई** मंदिर के गर्भगृह में की जाती है। उत्सवों के दौरान, गर्भगृह में शिव पूजा में उपयोग आने वाले पत्थर की वस्तुओं को भी कीमती धातुओं से सजाया जाता था। सोने से बनी सजावटी पोशाक का एक जोड़ा- जिसमें एक मुकुट, झुमके, एक हार और छाती, हाथ और पैर के अलंकार शामिल हैं। ये **मी सन** में मुख्य C1 मंदिर के बगल में स्थित छोटे C7 मंदिर में पाए गए थे जहाँ खड़ी स्थिति में शिव की पूजा की जाती थी; यह इस शैव संस्कृति के अभ्यास का एक अच्छा उदाहरण है।[28]

लिंग-कोष के कई उदाहरण हाल के वर्षों में बरामद किए गए हैं, विशेष रूप से **क्वाँग नाम** प्रांत के मी-सन और ताम की क्षेत्रों से। चंपा में संस्कृत शिलालेखों की एक श्रृंखला, छठी से आठवीं शताब्दी तक, स्वर्ण लिंग-आवरण की स्थापना और उसका का स्पष्ट संदर्भ में प्रथम प्रमाण है। उन्हें चार या पांच मुख वाले (चतुर या पंच-मुखलिंग) रूप में वर्णित किया गया है। लिंग-कोष ने चम राजाओं द्वारा उनके पीठासीन देवता को दिए गए सर्वोच्च मूल्य उपहार का प्रतिनिधित्व किया।

ऐसे धार्मिक दान और उपहारों को दान के रूप में वर्णित किया गया है। बदले में देवता का अनुग्रह प्राप्त करने की आशा में ईश्वर को उपहार धर्मपरायणता और भक्ति के कार्य के रूप में दिए जाते थे। चम मंदिर के अनुष्ठान में लिंग-कोष की स्थापना का सबसे पहला पुष्ट संदर्भ 687 ईस्वी (609 शक) में राजा प्रकाशधर्म द्वारा स्थापित एक शाही शिलालेख में दर्ज है। स्टेल (stele) को मंदिर B-6 के पास, मो सन में बरामद किया गया था। यह ईशानेश्वर (शिव) के लिए एक लिंग के समर्पण और ईशानेश्वर के लिए एक कोष और भद्रेश्वर के लिए एक मुकुट दोनों की स्थापना को आलेख करता है।[29] जावा में शैव संस्कृति की प्रतिष्ठा पूरे द्वीप समूह में देखने को मिलती है। सबसे जावा में लिंगोपासना का प्रमाण मिलता है अभिलेखों में। एक 732 साल (यानि शुरुआती 8 शताब्दी ईस्वी में) में लिखी गई संस्कृत शिलालेख जो वुकीर पहाड़ी के चांगल में स्थित शैव पूज्य स्थल से मिली है, उसमें शिवलिंग स्थापना का उल्लेख मिलता है। संजय नामक राजा ने इस पुरालेख में "यव द्वीप जो अनाज और सोने की खानों में समृद्ध है वहाँ लिंग स्थापना कारवाई।[30] इसके बाद लेखक तीन छंदों में सबसे उल्लेखनीय शब्दों में शिव की स्तुति करता है। शिव का उल्लेख तीन आंखों वाले व्यक्ति के रूप में किया गया है, पवित्र गंगा के साथ जटाओं वाले बाल और उनके सिर पर चंद्रमा, शरीर राख से लिपटा हुआ और सर्पों से बना हार। वह सर्वोच्च ऐश्वर्य से युक्त है और न केवल साधुओं द्वारा बल्कि इंद्र और अन्य देवताओं द्वारा भी उसकी पूजा की जाती है। वह भूतों का स्वामी है और अपनी असीम दया से अपने आठ रूपों के माध्यम से दुनिया को बनाए रखते हैं।[31] इन शब्दों से जावा में शिव का प्रभाव कितना महत्वपूर्ण और महान था इसकी कल्पना की जा सकती है।

यह अध्ययन दक्षिण-पूर्व एशिया में शैव संस्कृति के गहन प्रभाव को उजागर करता है, जो इसके ऐतिहासिक प्रसार और विभिन्न सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिदृश्यों में अनुकूलन को दर्शाता है। भारतीय संपर्कों के आरंभिक चरणों से लेकर, शैव संस्कृति जावा, कंबोडिया, और चम्पा जैसे क्षेत्रों में गहराई से समाहित हो गया, जहाँ यह स्थानीय धार्मिक प्रथाओं और राज्य की विचारधाराओं का अभिन्न अंग बन गया। भारतीय ग्रंथों, अनुष्ठानों, और मूर्तिकला प्रतीकों के माध्यम से शैव परंपराओं

को दक्षिण-पूर्व एशियाई परंपराओं में आत्मसात किया गया। पुरातात्विक स्थलों, अभिलेखों, और शैव प्रथाओं के स्थानीय अनुकूलनों से प्राप्त साक्ष्य भारतीय धार्मिक अवधारणाओं और दक्षिण-पूर्व एशियाई सांस्कृतिक ढाँचों के बीच परस्पर क्रिया को रेखांकित करते हैं।

संदर्भ

1. Jash, Pranabananda. "Influence of Saivism in the Southeast Asian countries." In *Proceedings of the Indian History Congress*, vol. 38, pp. 620-631. Indian History Congress, 1977. pp 622.
2. Jash, Pranabananda. "Influence of Saivism in the Southeast Asian countries." In *Proceedings of the Indian History Congress*, vol. 38, pp. 620-631. Indian History Congress, 1977. pp 622.
3. Sanderson, Alexis. "The aiva Religion Among the Khmers Part I." *Bulletin de l'École française d'Extrême-Orient* (2003): 349-462.
4. Bhargava, Piyush. "PRAMBANAN: A GROUP OF HINDU TEMPLES IN CENTRAL JAVA." In *Proceedings of the Indian History Congress*, pp. 1440-1441. Indian History Congress, 2012.
5. आज यह मंदिर त्रिमूर्ति यानि ब्रह्म, विष्णु और महेश को समर्पित है।
6. कैलाश पर्वत को ही मेरु पर्वत माना जाता है।
7. Bhargava, Piyush. "PRAMBANAN: A GROUP OF HINDU TEMPLES IN CENTRAL JAVA." In *Proceedings of the Indian History Congress*, pp. 1440-1441. Indian History Congress, 2012.
8. मोक्ष से संबंधित धर्मशास्त्र
9. Acri, Andrea. "2006. The Sanskrit-Old Javanese Tutur Literature from Bali. The Textual Basis of Saivism in Ancient Indonesia." Rivista Di Studi Sudasiatici, 2006.
10. Acri, Andrea. "2006. The Sanskrit-Old Javanese Tutur Literature from Bali. The Textual Basis of Saivism in Ancient Indonesia." Rivista Di Studi Sudasiatici, 2006.
11. Sanderson, Alexis. "The Saiva Religion Among the Khmers Part I." *Bulletin de l'École française d'Extrême-Orient* (2003): 349-462.
12. Jash, Pranabananda. "Influence of Saivism in the Southeast Asian countries." In *Proceedings of the Indian History Congress*, vol. 38, pp. 620-631. Indian History Congress, 1977.
13. Chemburkar, Swati, and Shivani Kapoor. "Pasupata Sect in Ancient Cambodia and Champa." *Vibrancy in Stone: Masterpieces of the Dà Nang Museum of Cham Sculpture. Bangkok: River Books* (2018): 48
14. Vickery, Michael. *Society, Economics, and Politics in Pre-Angkor Cambodia; The 7th-8th Centuries*. Centre for East Asian Cultural Studies, 1998.
15. Sahai, Sachchidanand. *Bhadreshvara : A Forgotten form of Shiva in India and South-East Asia.* B.R. Publishing Corporation, 2016.
16. Ibid;pp.7 * रमेश चंद्र मजूमदार बताते हैं कि देवता के नाम के पहले भाग और ईश्वर शब्द से बने शब्द से भगवान का नामकरण करने की परंपरा थी।
17. वर्ष 2020 में मी-सन से एक 9 शताब्दी ईस्वी का शिव लिंग खुदाई में मिला था।
18. Sahai, Sachchidanand. *Bhadreshvara : A Forgotten form of Shiva in India and South-East Asia.* B.R. Publishing Corporation, 2016.
19. Ibid, pp.49
20. Ibid, pp.95
21. Michael, Vickery. *Society, Economics and Politics in Pre-Angkor Cambodia: The 7th-8th Centuries.* Centre for East Asian Cultural Studies, 1998.
22. Mus, Paul. "The Ancient Khmer Empire." (1952): 259-262.
23. Cœdès, George. "Inscriptions du Cambodge (vol. V)." (1937).
24. Lavy, Paul A. "As in Heaven, So on Earth: The Politics of Visnu, Šiva and Harihara Images in Preangkorian Khmer Civilisation." Journal of Southeast Asian Studies 34, no. 1 (2003): 21-39.
25. Regnier, Rita "*Note sur l'évolution du chignon (jata) dans la statuaire préangkorienne"* Arts Asiatiques 14 (1966) 17-40.
26. Lavy, Paul A. "*As in Heaven, So on Earth: The Politics of Visnu, Siva and Harihara Images in Pre Angkorian Khmer Civilisation*." Journal of Southeast Asian Studies 34, no. 1 (2003): 21-39.
27. Jash, Pranabananda. "*Influence of Saivism in the Southeast Asian countries."* In Proceedings of the Indian History Congress, vol. 38, pp. 620-631 Indian History Congress, 1977.
28. Phuong, Tran Ky. "*The Architecture of the Temple-Towers of Ancient Champa (Central Vietnam).*" (2009): 155-186.
29. Guy, John. "Artistic Exchange, Regional Dialogue and the Cham Territories." *Champa and the Archaeology of My So'n* (2009): 127-154.
30. Coedes, George. *The Indianized States of Southeast Asia.* University of Hawaii Press, 1975.
31. Majumdar, Ramesh Chandra. *Suvarnadvipa: Ancient Indian Colonies in the Far East.* Gian Publishing House, 1986

(दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

उपन्यासकार गुरुदत्त की राष्ट्रीय दृष्टि

— डॉ. देवी प्रसाद तिवारी

उपन्यासकार गुरुदत्त के उपन्यासों में अभिव्यक्त चेतना का गहरा सरोकार लोक से है। गुरुदत्त के उपन्यासों को पढ़ते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने बिना किसी लाग लपेट के उस सच को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया जिससे ज्यादातर लेखक बचना चाहते हैं। गुरुदत्त राष्ट्रीय विचारधारा के लेखक हैं। उनका भारत बोध तथा राष्ट्रबोध अत्यंत गहरा है। गुरुदत्त जब लिखने बैठते हैं तो उन्हें किसी फायदे और नुकसान की चिंता नहीं होती है, उनके मन में एक ही चिंता है और वह है समाज की चिंता। उनके उपन्यासों का प्रत्येक वाक्य समाज की उस व्यवस्था पर चोट करता है जिसके कारण लोभ की प्रवृत्ति बढ़ती है जिसके कारण मानवता लज्जित होती है। गुरुदत्त के उपन्यास भौतिक संपदा के मोहजाल में फंसे लोगों को एक नई दृष्टि देते हैं।

उनके द्वारा लिखे गए उपन्यास 'देश की हत्या' का एक पात्र पूंजी के लोभ में अपनी स्वार्थी दृष्टि को अपनी बेटियों और परिवार पर आरोपित करता है और परिणाम स्वरूप उसके परिवार को एक हादसे से होकर गुजरना पड़ता है। गुरुदत्त राजनीतिज्ञों के भी बेहद करीब थे जिसके कारण उन्हें राजनीति और अपराध के गठजोड़ का गहरा अनुभव था जिसका प्रभाव उनके कथानकों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। गुरुदत्त अपने उपन्यासों में अपने इतिहास बोध के साथ उपस्थित होते हैं। गुरुदत्त के उपन्यासों को पढ़ते हुए अनेक बार ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि वे उपन्यास न होकर जीवन्त इतिहास हैं। उनके उपन्यासों में जिस प्रकार से घटनाओं का क्रम आगे बढ़ता है वैसा इतिहास की पुस्तकों में भी पढ़ने को मिलता है। विभाजन के विस्थापितों की पीड़ा के अनेक ऐसे दृश्य गुरुदत्त के उपन्यासों में देखने को मिलते हैं जिसकी पुष्टि

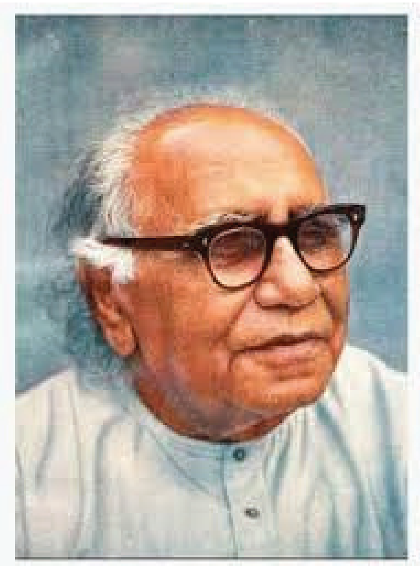

विस्थापितों के द्वारा दिए गए साक्षात्कार से भी होता है। गुरुदत्त का लेखन किसी के विरोध में नहीं था, उनका लेखन उस भाव के कारण था जिस भाव का स्वच्छंद प्रवाह उनके हृदय स्थल से प्रवाहित होकर उनकी रचना धर्मिता के कारण कागज के पन्नों पर उतरता चला गया।

गुरुदत्त जहां जन्मे वहां की स्मृतियां उनके हृदय में सदैव बनी रही और उन्हीं स्मृतियों के कारण उनका लगाव उस स्थान से सदैव बना रहा। भारत का विभाजन हुआ। भारत को एक बड़ी त्रासदी का सामना करना पड़ा, यह सब कुछ गुरुदत्त के लिए असहनीय था। गुरुदत्त के अनेक परिचित जो विस्थापित होकर दिल्ली या पंजाब में रहने के लिए आए उन्होंने अपनी आप बीती गुरुदत्त को सुनाई। शरणार्थी शिविरों में रहने वाले लोग अपने-अपने हिस्से का दुःख लोगों से साझा किया करते थे। उस समय तत्कालीन सरकार का भी ऐसा मन नहीं था कि विस्थापितों की पीड़ा पर ज्यादा विचार किया जाए, उन्हें लगता था कि त्रासदी को जितनी शीघ्रता से भुला दिया जाएगा उतनी ही शीघ्रता से उस उन्माद को कम किया जा सकेगा जिसके कारण यह सब कुछ यह सब कुछ

घटित हुआ था। गुरुदत्त जैसे उपन्यासकार ने भारत के भविष्य की चिंता की, उन्होंने इस दृष्टि से लेखन कार्य किया कि भारत की भावी पीढ़ी विभाजन की त्रासदी से परिचित हो सके और विभाजन जैसी त्रासदी की पुनरावृत्ति से न हो इस हेतु सतर्क रहे। गुरुदत्त की रचनाधर्मिता ऐसे लेखकों के लिए भी महत्वपूर्ण है जिन्होंने ऐसे उपेक्षित विषय को जनमानस के बीच लाकर समाज की दृष्टि को बदलने का प्रयास किया है।

गुरुदत्त के लेखन ने समाज में हलचल पैदा की। उनके साहस से प्रेरित होकर अनेक लेखकों ने राष्ट्रीय अस्मिता को दृष्टिगत रखते हुए लेखन कार्य आरंभ किया। ऐसे लेखकों ने इस बात की चिंता छोड़ दी कि सरकार हमारा उत्सवर्धन करेगी या नहीं करेगी। ऐसे लेखकों का उत्साहवर्धन समाज स्वयं कर रहा था। जिसका उत्साहवर्धन समाज करने लगता है उसके उत्साहवर्धन के लिए तो सरकारे बाध्य हो जाती हैं। गुरुदत्त ने उपन्यासों के अतिरिक्त अनेक कहानियां लिखीं, संस्मरण लिखे जिन्हें पढ़कर गुरुदत्त के उपन्यासों को समझने में सहायता मिलती है। अपने संस्मरण 'भाव और भावना' में उन्होंने अपनी जीवन यात्रा के कुछ वर्षों का उल्लेख किया है। 'भाव और भावना' को पढ़ते हुए लेखक गुरुदत्त की उस प्रवृत्ति से परिचित होना स्वभाविक हो जाता है जिनके कारण लेखक गुरुदत्त में राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और भारतबोध कहीं गहरे बैठा था। वर्तमान समय में गुरुदत्त की रचनाओं पर देश के अनेक विश्वविद्यालयों में शोध कार्य भी हो रहा है लेकिन एक ऐसा समय भी था कि लोग लेखक गुरुदत्त का नाम तक नहीं लेते थे। वे नहीं चाहते थे कि एक ऐसा लेखक जिसका समाज की समस्याओं से गहरा सरोकार था वह जनमानस का प्रतिनिधि लेखक न बन जाए।

लेखन के संदर्भ एक बात सदैव कही जाती रही है कि आबाध गति से लिखते रहने से एक न एक दिन पाठक उस विपुल साहित्यिक संपदा से होकर अवश्य ही गुजरता है और कितनी देर रचनाओं में ठहरता है यह लेखक की प्रतिभा पर निर्भर करता है। उनके चार महत्वपूर्ण उपन्यास विश्वासघात, देश की हत्या, दास्ता के नए रूप, सदा वत्सले मातृभूमे को पढ़कर कोई भी पाठक इस निष्कर्ष पर पहुंच सकता है कि ऐसे उपन्यासकार विरले ही होते हैं। गुरुदत्त किसी गल्प के लिए लेखन की दुनिया में नहीं आते हैं और न ही प्रकारांतर से अपनी बात कहने का प्रयास करते हैं। उनके उपन्यासों के पात्र आपस में जो संवाद करते हैं उस संवाद में परंपरा की चिंता है, संस्कृति की चिंता है, देश की सीमाओं की चिंता है, शिक्षा पद्धति की चिंता है। अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था ने भारतीय शिक्षा पद्धति को किस हद तक प्रभावित किया इसके अनेक उदाहरण गुरुदत्त के उपन्यासों में मिल जाते हैं। गुरुदत्त के उपन्यासों में धर्म पर विचार किया गया है लेकिन उनके लिए राष्ट्रधर्म ही सबसे बड़ा धर्म है। गुरुदत्त आर्य समाजी थे उसका भी उनके लेखन पर पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है। गुरुदत्त के उपन्यासों को पढ़ते हुए कभी ऐसा नहीं लगता कि उनके कथानकों को समझने में पाठक को कोई समस्या होती है। उनके मन में राष्ट्र के लिए श्रद्धा है और राष्ट्र विरोधी शक्तियों के लिए अश्रद्धा का भाव है। ऐसे संगठन जो समाज के लिए प्राण वायु की तरह है उनकी प्रशंसा करने में गुरुदत्त को कोई संकोच नहीं होता है। उनके उपन्यासों में अनेक ऐसे प्रसंग मिल जाते हैं जहां उनके पात्र अपने-अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता के साथ उपस्थित होते हैं और तर्कों के माध्यम से अपनी-अपनी विचारधारा की प्रतिष्ठा का प्रयास करते हैं। उनके द्वारा समाज में किस प्रकार से योगदान किया जा रहा है इसका उल्लेख करते हुए वे प्रमाणिकता के साथ अपनी बात रखने का प्रयास करते हैं।

गुरुदत्त के उपन्यासों में जिस विचार तत्व की प्रधानता है उसकी निर्मिति नई नहीं है, वर्षों पुरानी है। गुरुदत्त के अध्यापकीय व्यक्तित्व का भी प्रभाव उनके उपन्यासों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनके उपन्यासों के पात्र जब आपस में संवाद करते हैं तो ऐसा लगता है कि शिक्षक गुरुदत्त अपनी पूरी ऊर्जा के साथ प्रश्न खड़ा कर रहे हैं और फिर उसका समाधान भी कर रहे हैं। अनेक प्रसंगों में वे एक शिक्षक की तरह सख्त हो जाते हैं जो समाज को एक नई दृष्टि और नई दिशा देने के लिए प्रतिबद्ध होता है। शिक्षक के अपने विशेषाधिकार हैं जिसका पूरी स्वतंत्रता के साथ वे अपने उपन्यासों में उपयोग करते हैं। जिस ठसक के साथ वे राजनीतिक दलों और उसके नेताओं

को कटघरे में खड़ा करते हैं, ललकारते हैं वह उनकी शिक्षक वृत्ति के कारण है। विभाजन के दौरान बहुतों का बहुत कुछ छूटा गुरुदत्त से भी उनका अपना लाहौर छूटा। गुरुदत्त विभाजन पूर्व से ही आकर अमेठी, दिल्ली इत्यादि स्थानों पर रहने लगे थे लेकिन प्रवास में किसी का संपर्क अपनी मातृभूमि से नहीं छूटता। विभाजन के दौरान किसी का सेवा भाव, किसी का साहस, किसी का त्याग समाज के लिए सहारा बना। गुरुदत्त के उपन्यासों में सेवा, साहस और त्याग के अनेक उदाहरण मिलते हैं। उनके उपन्यास 'देश की हत्या' की स्त्री पात्र का संघर्ष साहस की पराकाष्ठा है। छल, छद्म का सामना करते हुए भी वह जीवन का परित्याग नहीं करती है, वह परिस्थितियों का सामना करती हैं, अनेक कठिनाइयों से होकर गुजरने के बाद भी उसके भीतर का सेवा भाव बचा रहता है। वह शरणार्थी शिविरों में रहकर विस्थापितों की सेवा करती है।

गुरुदत्त के उपन्यास पाठकों के मनोमस्तिष्क को मजबूत बनाते हैं। किसी भी परिस्थिति में उसे मजबूत बने रहने की प्रेरणा देते हैं। जिनके पास कोई भौतिक संपदा न हो वे किस प्रकार से अपना नया जीवन आरंभ कर सकते हैं इसकी भी दृष्टि गुरुदत्त के उपन्यासों को पढ़ते हुए मिल जाती है। नियति पर किसी का वश नहीं होता, जो कुछ घटना है वह तो घटित होगा ही लेकिन ऐसी दुखांत स्मृतियों से किस प्रकार से बाहर आया जाए इसके अनेक उदाहरण गुरुदत्त के उपन्यासों में मिलते हैं। समाज के लोग किस प्रकार से आपस में मिलकर एक संगठन खड़ा करते हैं, संपर्कों का विस्तार करते है, उन संपर्कों का उपयोग एक दूसरे के सहयोग के लिए करते हैं यह सब कुछ गुरुदत्त के उपन्यासों में देखने को मिलता है। समाज की पीड़ा से द्रवित होकर लोग अपने खजाने खोल देते हैं। अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं उठ खड़ी होती हैं। लोगों के सामार्थ्य और साहस के सामने चुनौतियां बौनी लगने लगती हैं। देखते ही देखते एक गुमसुम सा व्यक्ति समाज की मुख्य धारा का हिस्सा बन जाता है। उसकी सूखी पलकों में जान आ जाती है। विभाजन के दौरान विस्थापित हुए लोगों में अनेक ऐसे थे जिन्होंने फुटपाथ से अपना काम शुरू किया और देखते ही देखते बड़े-बड़े महलों के मालिक बन गए। अनेक तो ऐसे हैं जिन्होंने लोगों को रोजगार दिया। जिनकी अनेक रातें पानी के सहारे गुजारी थीं, समय आने पर उनका सहयोग और सेवा भाव समाज में उदाहरण बना। ऐसे लोगों के मन में किसी के लिए कोई वैर भाव नहीं था वे तो बस इस बात से चिंतित थे कि अकारण उन्हें इतनी बड़ी सजा क्यों दी गई? उन्हें चिंता थी तो अपनों से बिछुड़ने की।

> ***विभाजन को केंद्र में रखकर भीष्म साहनी ने 'तमस' लिखा और गुरुदत्त ने 'देश की हत्या'। भीष्म साहनी के 'तमस' की तो खूब चर्चा होती है लेकिन गुरुदत्त के उपन्यास की उतनी चर्चा नहीं होती जबकि गुरुदत्त का उपन्यास तत्कालीन परिस्थिति को समझने के लिए भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' से अधिक प्रभावशाली है।***

आर्य समाज जिसका प्रभाव गुरुदत्त के जीवन पर दिखाई पड़ता है उसका समाज में किस प्रकार का योगदान था इसका भी उल्लेख गुरुदत्त के उपन्यासों के अनेक प्रसंगों में आता है। समाज की चिंता करने, समाज का सहयोग करने और समाज को संगठित करने का जो कार्य आर्य समाज ने किया, उसके लिए उसकी प्रशंसा होती रहती है। समाज में किसी संगठन के द्वारा जो कुछ उल्लेखनीय किया जाता है उसके लिए समाज सदैव उसका आभारी रहता है। समाज के उत्थान के लिए किस संगठन ने, किस व्यक्ति ने किस प्रकार का योगदान किया इसकी समीक्षा समय करता है और माध्यम बनते हैं गुरुदत्त जैसे रचनाकार जिनके कथानक समाज में ऐसे भाव को लेकर जाते हैं जिनमें राष्ट्रीय चेतना विशेष तौर पर उपस्थित है। विभाजन को केंद्र में रखकर भीष्म साहनी ने 'तमस' लिखा और गुरुदत्त ने 'देश की हत्या'। भीष्म साहनी के 'तमस' की तो खूब चर्चा होती है लेकिन गुरुदत्त के उपन्यास की उतनी चर्चा नहीं होती जबकि गुरुदत्त का उपन्यास तत्कालीन परिस्थिति को समझने के लिए भीष्म साहनी के उपन्यास 'तमस' से अधिक प्रभावशाली है।

एक उपन्यासकार के रूप में गुरुदत्त

को समाज में वह स्थान नहीं मिला जिसके वे सही मायने में अधिकारी हैं। अकादमिक जगत में विचारधारा विशेष के प्रभाव के कारण ऐसे अनेक राष्ट्रीय ख्याति के रचनाकार ओझल हो गए जिनकी रचनाओं के माध्यम से समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन संभव था। ऐसा क्यों हुआ ? इससे आज के समय में समाज का कोई भी व्यक्ति या वर्ग अनभिज्ञ नहीं है। अनेक बार ऐसा होता है कि विपरीत विचारधारा के लोग भी आपके सामार्थ्य का लोहा मानते हैं लेकिन यही बात स्पष्ट रूप से कहने में संकोच करते हैं। समय उनका यह संकोच भी दूर कर देता है। अंग्रेजों की जिस शिक्षा पद्धति की आलोचना गुरुदत्त मुखर होकर करते हैं, आज समाज का बहुत बड़ा वर्ग उस शिक्षा पद्धति के खिलाफ खुलकर बोलता है, उसकी आलोचना करता है। अपने देश की शक्ति को पहचानना, उसके सामर्थ्य से समाज को परिचित करवाना लेखक का धर्म होता है और गुरुदत्त ने अपने इस लेखकीय धर्म का सफलता पूर्वक निर्वहन किया। एक लेखक के लिए आवश्यक है उसका निर्भय होना, एक संवेदनशील लेखक जब तक निर्भय नहीं होगा उसकी रचनाओं में उसका संकोच दिखाई पड़ेगा। एक लेखक में लोक मर्यादा को दृष्टिगत रखते हुए बिना किसी संकोच के अपनी बात कहने का साहस होना चाहिए और यह साहस सत्य के साथ खड़े होने से ही आता है। गुरुदत्त सत्य के साथ खड़े होते हैं, उनकी पारंपरिक प्रतिबद्धता उन्हें निडर बनाती है। उनकी आंखों ने जिन दृश्यों का साक्षात्कार किया उन दृश्यों ने उन्हें कभी शांत नहीं बैठने दिया।लेखक जितना प्रौढ़ होता जाता है स्मृतियां भी उतनी ही सघन होती जाती है। एक लेखक जब उन सघन स्मृतियों से जूझता है तो किसी रचना का जन्म होता है। स्मृतियों से जूझने का यह क्रम गुरुदत्त में सदैव बना रहा जिसके परिणाम स्वरूप उनका विपुल लेखन हम सब के बीच है।

आपात स्थिति में सामाजिक संगठन किस प्रकार से समाज के कवच की भूमिका में उपस्थित हो जाते हैं इसके भी अनेक दृष्टांत गुरुदत्त के उपन्यासों में मिलते हैं। विभाजन के दौरान राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सेवा भाव को समझने के लिए भी गुरदत्त के उपन्यास अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं। स्वयंसेवकों का शरणार्थी शिविरों में जाना, विस्थापितों की सेवा करना, बिछुड़े परिवारों को एक दूसरे से मिलाने का प्रयास करना, आपात स्थिति में आम जनमानस की रक्षा का प्रयास करना, ऐसे अनेक योगदान जो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों के द्वारा किए गए उसका उल्लेख गुरुदत्त के उपन्यासों में आता है। मतभिन्नता अलग विषय है लेकिन मनभेद नहीं होना चाहिए। मतभिन्नता समाज का सौंदर्य है। गुरुदत्त के उपन्यासों में जिनका भी उल्लेख आता है वह इसलिए नहीं आता है कि गुरुदत्त जानबूझकर ऐसा करना चाहते हैं बल्कि इसलिए आता है कि ऐसे सामाजिक संगठनों या व्यक्तियों के सेवा भाव की उपेक्षा करना गुरुदत्त को न्यायोचित नहीं लगा। यह हो सकता है कि किसी की वैचारिक प्रतिबद्धता आपकी वैचारिकी के अनुकूल न हो लेकिन उसके सद्प्रयासों की उपेक्षा करना उसके साथ अन्याय करना है। गुरुदत्त ने अपनी रचनाधर्मिता के माध्यम से ऐसे व्यक्तियों और सामाजिक संगठनों के साथ न्याय किया है। उन्होंने इस आधार पर किसी की अपेक्षा नहीं की उक्त सामाजिक संगठन की धारणा सत्ता से मेल खाती है या नहीं। उन्होंने लेखकीय धर्म का निर्वहन किया।

आने वाली पीढ़ी जब किसी रचना से होकर गुजरती है तो वह उन सभी पक्षों पर दृष्टिपात करने का प्रयास करती है जिसकी गवाही तत्कालीन परिस्थिति करती है। यदि कोई लेखक किसी विशेष विषय की उपेक्षा करके आगे बढ़ जाता है तो उस पर प्रश्नचिन्ह लगना स्वाभाविक है। समीक्षक उन कारणों की पड़ताल करता है और यदि उसे इस विषय का प्रमाणिक बोध हो जाता है कि लेखक ने किसी पूर्वाग्रह के कारण किसी विशेष विषय की उपेक्षा की है तो उसके मन में लेखक के प्रति श्रद्धा शिथिल हो जाती है। गुरुदत्त भविष्य द्रष्टा थे, उन्हें इस बात का आभास था कि यदि वे अपने उपन्यासों में समसामयिक विषयों की उपेक्षा करेंगे तो आने वाले समय में उनकी रचनाधर्मिता समाज की मुख्य धारा में शामिल होने से वंचित रह जाएगी।

(डॉ. देवी प्रसाद तिवारी
ग्राम -अकबालपुर, पो-इटौरी,
जिला- अंबेडकर नगर, उ.प्र.
पिन-224159)

हिन्दी साहित्यकारों की स्मृति में रवीन्द्रनाथ

—घुंघरू परमार

रवीन्द्र बाबू जैसे महान व्यक्तित्व के संपर्क में आना, उनके साथ अपने जीवन के कुछ समय व्यतीत करना किसी भी साधारण व्यक्तित्व को एक असाधारण गरिमा प्रदान कर देता है। देश-विदेश किसी भी जगह, संसार का कोई भी कोना रवीन्द्र बाबू के व्यक्तित्व और लेखन के प्रभाव से नहीं बचा था।

हिन्दी संसार ही नहीं वरन बांग्ला से लेकर अन्य भाषाओं में विदेशी विद्वानों ने भी इनके संस्मरण, विवरणों और वृत्तांतों के बारे में विस्तार से लिखा है। कुछ लेखकों ने स्मृतियों और अनुभूतियों के आधार पर संस्मरण लिखे तो कुछ लेखक जैसे शिवानी और हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वान लेखकों ने संस्मरण और जीवनी मिश्रित ग्रंथ ही लिख डाले।

इन संस्मरणों में हम रवीन्द्र बाबू के व्यक्तित्व और लेखन को अलग-अलग हिन्दी लेखकों के नजरिये से समझेंगे। रवीन्द्रनाथ का स्वभाव, दैनिक क्रियाकलाप या अन्य गतिविधियों को अन्य हिन्दी लेखकों की नजर से अत्यंत ही करीब से देखना-परखना, समझना उनके व्यक्तित्व के हरेक सूक्ष्म से सूक्ष्मतम पहलुओं को दर्शाता है। इतनी सूक्ष्मता और बारीकी से रवीन्द्र और रवीन्द्र-साहित्य का अवलोकन हिन्दी के दिग्गज साहित्यकारों द्वारा उनके प्रति प्रेम और लगाव को प्रदर्शित करता है।

माखनलाल चतुर्वेदी, रवीन्द्र बाबू से ही नहीं बल्कि उनके लेखन, सिद्धांत और शान्तिनिकेतन की अवधारणा से भी पूरी तरह प्रभावित थे। वे सिर्फ रवि के कवि-कर्म से ही नहीं, मानव-धर्म से भी प्रेरित थे।

अपने संस्मरण 'समय के पाँव' में उन्होंने रवीन्द्र बाबू के लिए लिखा है—"रवि ठाकुर ने जाति, भाषा और सम्प्रदाय के छोटे- छोटे भेदों को पार कर लिया था। कदाचित् इसीलिए भारतवर्ष ने अपना राष्ट्रीय गान गुरूदेव के जन -गण-मन ' गीत को बनाया।"[1]

माखनलाल जी अपने संस्मरण में स्पष्ट करते हैं कि रवीन्द्र बाबू से उनकी पहली मुलाकात भरतपुर के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में हुआ था। उस सम्मेलन में बड़े- बड़े विद्वान आए हुए थे। माखनलाल, रवीन्द्र बाबू की पोशाक और उनकी सहजता से काफी प्रभावित हुए। रवि बाबू रेशमी लबादा धारण किये, दाढ़ी की उज्ज्वलता और आँखों की

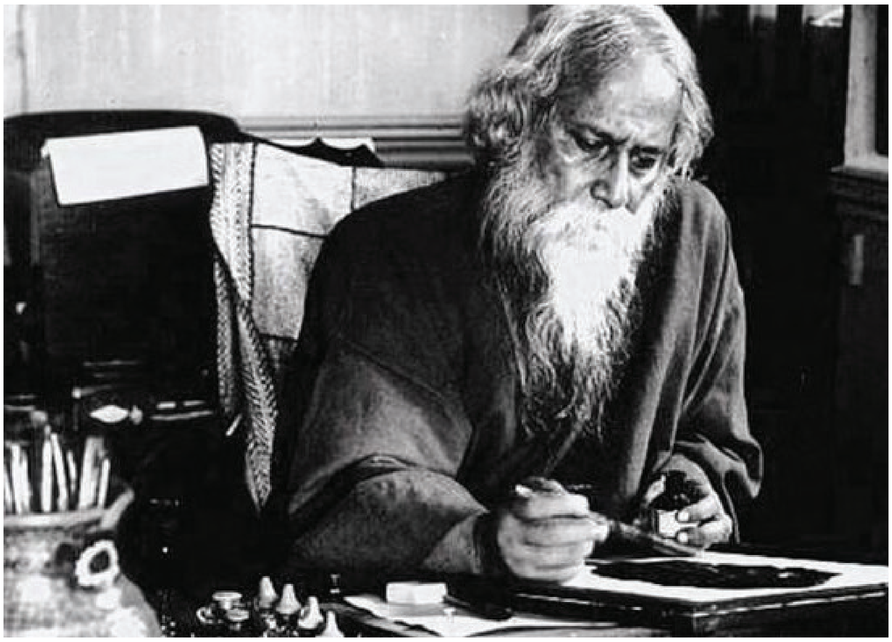

चमक लिए जब बोलना आरंभ किये तो, श्रोता उनकी मखमल-सी कोमल शब्दों में गुम हो गये।

माखनलाल जी ने अत्यंत ही रोचक तरीके से अपनी शान्तिनिकेतन यात्रा और गुरूदेव के संग व्यतीत किए मधुर स्मृत्रियों को लिखा है- "छोटे-छोटे झोपड़े मिट्टी की दीवारों वाले, और उन दीवारों पर महाभारत और रामायण काल की तथा बुद्ध जातकों की घटनओं के चित्र बने हुए थे। झोपड़ी के द्वार पर उपनिषद् का वाक्य देखकर मेरा मन गदगद हो उठा।"[2]

रवीन्द्र बाबू मिट्टी के घरौंदे या झोपड़ी में रहना ही पसंद करते थे। उनके रहने के स्थान को 'उत्तरायण' नाम से जाना जाता था। उन्हें हजारों वर्ष पूर्व का भारत दिख रहा था, बिना किसी ढोंग या ढकोसले से मुक्त। उन्होंने रवीन्द्र बाबू की कक्षा, छात्र और अध्यापक भी देखे। अध्यापक और अध्यापन में कोई दर्प या घमंड नहीं। संपूर्ण कक्षा मर्यादित तरीके से बैठे थे। अर्द्ध-वृत्ताकार छात्रों के मध्य बैठे अध्यापक भी, छात्र की तरह ही लग रहे थे। वहाँ कोई भेदभाव नहीं था।

शान्तिनिकेतन जाकर माखनलाल जी को महसूस हुआ कि गरूदेव का गाँवों के प्रति प्रेम, बनावटी नहीं है। उनकी कथनी और करनी में कोई अंतर भी नहीं है। वे जिस भारत और भारतीय चिन्तन का स्वप्न लोगों को दिखाते हैं, गुरूदेव वही जीवन -मूल्यों को जी भी रहे हैं।

माखनलाल जी को वहाँ शान्तिनिकेतन में इस प्रकार की चीजें

> **"भारतीय संस्कृति का गौरव और उपनिषदीय सूत्रों का वैभव गुरुदेव की रचनओं में स्पष्ट दीख पड़ता है। लगता है, उनका रहस्यवाद, उनका दर्शन युगों-युगों को भेंट सकने वाली भाषा में व्यक्त हुआ है।**

देखकर काफी आश्चर्य हआ। वे सोचने लगे-रवीन्द्र बाबू हजारों वर्ष पूर्व के ऋषि-मुनियों के दर्शन की बातें कैसे कर पा रहे हैं। उनका चिन्तन कृषि और श्रम की महत्ता को लेकर भी है।

रवीन्द्र का उद्देश्य गाँवों को आत्मनिर्भर और पूर्णता की ओर ले जाना था। इसी विचार से उन्हेंने श्रीनिकेतन की भी स्थापन की थी। माखनलाल जी उनके इन विचारों से काफी प्रभावित थे कि रवीन्द्र बाबू के तरीके और सलीके वहाँ के गाँव वाले अपना रहे हैं।

वे कम खर्चीले और आत्मनिर्भरता को, सांस्कृतिक व्यवहारों को जानना-समझना और नूतन तरीके से वैज्ञानिक आविष्कारों को बढ़ावा दे रहे थे। गाँव में आस-पास का माहौल ऐसा हो कि पूरी स्वतंत्रता के साथ बच्चे शिक्षण ग्रहण कर सकें। गायन -वादन और नृत्य कलाओं को भी बढ़ावा दिया जा रहा था।

वे रवीन्द्र बाबू से इतने प्रभावित होते हैं कि स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं–"भारतीय संस्कृति का गौरव और उपनिषदीय सूत्रों का वैभव गुरुदेव की रचनओं में स्पष्ट दीख पड़ता है। लगता है, उनका रहस्यवाद, उनका दर्शन युगों-युगों को भेंट सकने वाली भाषा में व्यक्त हुआ है।"[3]

छायावाद की प्रसिद्ध कवयित्री महादेवी जी ने कवीन्द्र-रवीन्द्र की याद में सुंदर संस्मरण लिखा है। उन्होंने रवीन्द्र के महाप्रस्थान पर उनकी याद में उन्हें श्रद्धांजलि देते हुए 'यह विदा वेला' शीर्षक से कविता भी लिखी है।

रवीन्द्र बाबू के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के बारे में महादेवी जी ने अत्यन्त ही सुन्दर रेखाचित्र अपने शब्दों में कुछ इस प्रकार खींचा है –'"मुख की सौम्यता को घेरे हुए वह रजत आलोक-मंडल जैसा केश-कलाप मानो समय ने कान को अनुभव के ऊजले झीने तंतु में कात कर उससे जीवन का मुकुट बना दिया हो। केशों की उज्ज्वलता के लिए दीप्त दर्पण जैसे माथे पर समानांतर रहकर साथ चलने वाली रेखाएँ जैसे लक्ष्य-पथ पर हृदय के विश्राम चिह्न हों।"[4]

जिस प्रकार महादेवी जी अत्यंत ही पशु-प्रेमी थीं उसी प्रकार गुरुदेव को भी पशु-पक्षियों से अत्यंत ही स्नेह था। अपने पूरे जीवन-काल में महादेवी जी उनसे तीन बार मिल पाईं। प्रथम बार अपने छात्र जीवन में ही रवीन्द्र का पशुओं के प्रति प्रेम और एक कुत्ते के लिए चिंता संग सहायता की बात जान कर वे काफी प्रभावित हुईं।

दूसरी बार महादेवी जी उन से तब मिली जब वे अपने कर्मक्षेत्र में प्रवेश कर चुकी थीं। रवि बाबू वहाँ मिट्टी की झोपड़ी

में रहते थे। उन्हें देखकर महादेवी को ऐसा लगा जैसे कोई अद्भुत शिल्पकार हो। उनका कौशल ऐसा जैसे काली मिट्टी को अपनी निपुणता से सोना बनाने में कोई जादूगर व्यस्त हो।

तीसरी बार महादेवी जी ने उन्हें रंगमंच पर देखा। ढ़लती उम्र में भी रवीन्द्र को शान्तिनिकेतन के लिए हरेक प्रकार से प्रयत्न करता देख उनका हृदय भर आया। अर्थ-संग्रह के लिए इतनी कड़ी मेहनत और सारे यत्न उन्हें एक सामान्य मनुष्य की श्रेणी से असाधारण बन रहा था –"जिसकी ऊँगलियों में सृजन स्वयं उतरकर पुकारता है उसे साधन -शून्य रेगिस्तान में निर्वासित कर जाता है।"[5]

महादेवी जी रवीन्द्र बाबू के रहस्यवाद से भी काफी प्रभावित होती हैं। वे रवीन्द्र के काव्य में सत्य, शिव और सौंदर्य की भी बात करती हैं। उनके चिन्तन और चिन्तन से उत्पन्न दर्शन और विचारों के बारे में भी वह लिखती हैं। महादेवी जी ने अपने छोटे से संस्मरण में रवीन्द्र के दर्शन और विचारों पर अपने सूक्ष्म अवलोकन प्रस्तुत किए हैं।

पन्त जी द्वारा लिखित श्री रवीन्द्रनाथ के संस्मरण पन्त ग्रंथावली भाग-6 में संग्रहीत है। इसमें वे रवीन्द्र बाबू की स्मृतियों को याद करते हुए लिखते हैं कि उनकी पहली मुलाकात उन से तब हुई जब वे बहुत छोटे थे। तब वे छोटे लड़के थे, हाई स्कूल के छात्र रहे थे शायद। यह मुलाकात बस दर्शन भर ही था, कोई बातचीत नहीं।

पन्त जी को रवीन्द्र बाबू से शान्तिनिकेतन में भी मुलाकात करने के तीन -चार अवसर मिले थे। एक बार रवीन्द्र बाबू वहाँ 'चाण्डालिका' का रिहर्सल करवा रहे थे। तब पन्त जी मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित थे। ''मैं रवीन्द्रनाथ के उन्नत आदर्शवाद के अतिरिक्त ऐतिहासिक वास्तविकता का बोध प्राप्त कर अपने लिए एक अधिक व्यापक मानसिक धरातल की खोज में था।"[6] पंत को रवीन्द्रनाथ के विचारों की दृष्टि अस्पष्ट तथा वायवी लगी।

वे रवीन्द्र बाबू के उन्नत आदर्शवाद के संग उनके ऐतिहासिक बोध, विचारधारा प्राप्त कर अपनी मानसिक खुराक ढूँढ रहे थे। वे अपनी मानसिक जमीन की खोज में रवीन्द्र बाबू से विभिन्न प्रकार के प्रश्न पूछा करते थे। भौतिकवाद और जैवशास्त्र आधारित विचारों के कारण होते परिवर्तन के संबंध में जब पंत जी ने रवीन्द्र बाबू से कुछ प्रश्न पूछा तो वे हँसी और विनोदपूर्ण उत्तर देते हुए बोले, "मैं अब बुढ़ापे में पुराने आदर्शों तथा जीवन -प्रणाली के विरुद्ध आवाज उठाऊँगा तो लोग मेरे मरने के बाद शोक सभाएँ नहीं करेंगे, तुम्ही अपनी पीढ़ी की समस्याओं से जूझो और उनके बारे में लिखो।"[7]

> ***रवीन्द्र का उद्देश्य गाँवों को आत्मनिर्भर और पूर्णता की ओर ले जाना था। इसी विचार से उन्हेंने श्रीनिकेतन की भी स्थापन की थी। माखनलाल जी उनके इन विचारों से काफी प्रभावित थे कि रवीन्द्र बाबू के तरीके और सलीके वहाँ के गाँव वाले अपना रहे हैं।***

पंत भी इस राविन्द्रिक प्रभाव से अछूते नहीं रह पाए थे। उन्होंने भी मन ही मन बांग्ला सीखने का विचार किया। अपने भाई के ही किसी मित्र द्वारा बनारस में ही इस शुभ कार्य का प्रारंभ किया। उन्होंने बांग्ला-अंग्रेजी द्वारा रवीन्द्र-साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया।

पन्त जी को रवीन्द्र बाबू की कविता से अधिक उनके गीत पसंद थे। उन्होंने स्वेच्छा से इन बातों को स्वीकार किया है कि रवीन्द्र बाबू के कालिदासोपम सौन्दर्य बोध का तो उन पर गहरा और उदात्त प्रभाव पड़ा।

पन्त, रवीन्द्र काव्य साहित्य पर अलग से निबन्ध भी लिखे हैं परन्तु यह संस्मरण लिखते हुए जब वे उनके प्रभाव में आकर बांग्ला सीखते हैं तो इस बात को लिखते हैं। हालांकि ये विचार पन्त जी के हैं। पन्त उनके आदर्शवाद से भी प्रभावित है। निर्मल वर्मा जी ने अपने एक निबन्ध 'कला, मिथक और यथार्थ' में सही कहा है –"आइडियोलॉजी के विरुद्ध कला ने ही एकमात्र चुनौती प्रस्तुत की है, एक अंतिम, व्याकुल चुनौती, जिसके भीतर आधुनिक संकट में फँसे मनुष्य ने इतिहास की स्वेच्छाचारी विकृतियों के खिलाफ अपनी सम्पूर्ण अस्मिता को साबित और परिभाषित करने की चेष्टा की है।''[8]

एक दिन पन्त के आग्रह पर उन्होंने अपनी गीत के कुछ पद को गुनगुना कर उन्हें सुनाया। एक महान जीवन द्रष्टा के संग ऐसे-ऐसे संस्मरण जीवन के अमूल्य निधि हैं, जिसे हिन्दी के चंद सौभाग्यशाली साहित्यकारों को ही प्राप्त हो सका, पंत उनमें से एक थे।

जैनेन्द्र जी की मुलाकात रवीन्द्र बाबू से बनारसी दास चतुर्वेदी जी की अध्यक्षता में हुई थी। इसमें माखनलाल चतुर्वेदी जी भी थे। इस यात्रा के लिए प्रेमचन्द जी को भी निमंत्रण मिला था, परंतु वे किसी कारणवश इस यात्रा में शान्तिनिकेतन नहीं जा सके थे।

जैनेन्द्र जी ने रवीन्द्र बाबू पर अत्यन्त ही सुंदर संस्मरण लिखा है। इस संस्मरण की खूबसूरती यह है कि यह संस्मरण एक इंटरव्यू विधा में प्रारम्भ होती है। यह संस्मरण इसलिए कि यहाँ प्रश्नकर्ता भी स्वयं जैनेन्द्र जी हैं और उन पश्नों के उत्तर भी वे स्वयं दे रहे हैं। इस प्रकार के संस्मरण को हिन्दी साहित्य में एक नूतन प्रयोग कह सकते हैं।

संस्मरण की शुरूआत ही कुछ इस प्रकार से होती है –''रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाम और साहित्य से आप कब और कैसे परिचित हुए? ''[9]

इस प्रश्न का उत्तर नीचे कुछ इस प्रकार दिया जाता है –एकबारगी तो पाठक को भ्रम हो जाता है कि दो अलग व्यक्ति सवाल-जवाब कर रहें हैं। जबकि ऐसा कुछ नहीं है। जवाब कुछ इस प्रकार जैनेन्द्र जी अपने ही दूसरे जैनेन्द्र को देते है – ''छुटपन से ही नाम सुनता और चित्र देखता आया था। कहा ही नहीं जा सकता कि नाम का परिचय पहले कब हुआ। होश आया, तब से ही वह नाम परिचित रहा है।''[10]

> **“**
>
> ***अपने बचपना के कारण ही जैनेन्द्र ने गुरुदेव से पूछ लिया था कि गुरुदेव आपके अनुसार तो लेखकों की भाषा सरल और सीधी होनी चाहिए परन्तु आपकी भाषा अलंकारपूर्ण और गूढ़ लगती है मुझे। तब रवीन्द्र बाबू ने अत्यन्त ही सरल एवं शांत भाव से कहा कि आप किसी की भी नकल या अनुकरण मत करो, करना है तो बस अपना करो।***

जैनेन्द्र जी तब जेल काटकर दिल्ली लौटे थे। गाँधी-इरविन पैक्ट होने के बाद उन्हें यह मुक्ति मिली थी। बनारसी दास चतुर्वेदी जी ने जब कुछ लोगों संग जैनेन्द्र जी को भी कवीन्द्र से मिलने जाने के लिए यह प्रस्ताव रखा तो वे अचंभित हो गए। वहाँ माखनलाल चतुर्वेदी जी और सुदर्शन जी, सत्यवती मलिक और अन्य लोग भी उपस्थित थे।

बनारसी दास अपने नेतृत्व में मानो इन लोगों को जीवित तीर्थ पर लाए थे। जैनेन्द्र जी रवि बाबू की झोपड़ी शामली और उत्तरायण के बारे में भी बातें करते हैं। उनकी पोशाकों के बारे में कहते कि उनमें निषेध नहीं। सबको समाए रखने की कोशिश, इसलिए आवश्यकता से अधिक वस्त्र उनके शरीर पर रहते थे। जैनेन्द्र जी रवीन्द्र बाबू की प्रकृति की सानिध्यता से अत्यन्त ही प्रभावित थे। जिसके मूल में ज्ञान -विज्ञान, बौद्धिकता और रागात्मकता में संतुलन था।

जैनेन्द्र जी हिन्दी कविता पर उनकी रहस्यवादी कविताओं के प्रभाव को स्वीकार करते हैं। उनके दर्शन के बारे में वे यह मानते हैं कि रवीन्द्र पहले कवि थे, दर्शन शास्त्री बाद में।

अपने बचपणा के कारण ही उन्होंने गुरुदेव से पूछ लिया था कि गुरुदेव आपके अनुसार तो लेखकों की भाषा सरल और सीधी होनी चाहिए परन्तु आपकी भाषा अलंकारपूर्ण और गूढ़ लगती है मुझे। इस धृष्टतापूर्ण सवाल के लिए बनारसीदास ने जैनेन्द्र जी की ओर लज्जा और गुरुदेव के प्रति क्षुद्रता करने के लिए भर्त्सनापूर्ण नजरिये से देखा।

तब रवीन्द्र बाबू ने अत्यन्त ही सरल एवं शांत भाव से कहा कि आप किसी की भी नकल या अनुकरण मत करो, करना है तो बस अपना करो। रवीन्द्र बोलते वक्त किसी विशेष की ओर नहीं देखते थे। ज्यादातर बातें वे नीचे या ऊपर की ओर देखकर करते थे।

जैनेन्द्र जी कहते है, ''मैं उसमें सब उत्तर पा गया। कहीं उन शब्दों में आत्म-समर्थन ना था, ना आत्मरक्षा का प्रयत्न था और ना ही आत्मा-व्याख्या का प्रयत्न था। किंचित भी रोष की ध्वनि ना थी। वाणी की उस संलग्नता पर सहसा औरों

का विभाव भी शान्त हुआ।"[11]

जैनेन्द्र जी उनके उत्तर से काफी प्रभावित हुए। ऐसा निर्दोष व्यक्तित्व कांतिमान चेहरा, इतनी सहजता उन्हें अविश्वसनीय लग रही थी। ऐसा इंसान कोई कैसे हो सकता है, जिसमें मानवीय त्रुटियाँ और उच्छृंखलताएँ ना हों, जो देवत्व के समीप है। वो रवि बाबू के चेहरे पर बार-बार त्रुटियाँ या दोष खोजने की कोशिश तो करते हैं परन्तु उनके व्यक्तित्व में निस्त्रैगुण्यता पाकर चकित हैं। उन्हें रवि बाबू में देवोपमता के अलावे कुछ नहीं मिल पा रहा।

शिवानी हिन्दी की महत्वपूर्ण लेखिका थीं। उनका मूल नाम 'गौरा पंत' था। इन्होंने कहानी, उपन्यास, आत्मकथा और संस्मरण विधा में अपना लेखन किया। जो काफी लोकप्रिय हुए।

शिवानी, रवीन्द्र बाबू के शान्तिनिकेतन की छात्रा रहीं। उन्होंने वहाँ आठ वर्ष शिक्षा-दीक्षा ग्रहण किये। 'आमादेर शान्तिनिकेतन ' शिवानी जी द्वारा लिखा गया संस्मरण है जो उन्होंने गुरुदेव ओर वहाँ के लोगों की स्मृतियों में लिखा है। शान्तिनिकेतन प्रवास के आठ दीर्घ वर्ष जो शिवानी जी ने वहाँ अपने अध्ययन हेतु किशोरावस्था में बिताए, उन अनमोल क्षणों का ही इस संस्मरण में विस्तार से वर्णन है। इस पुस्तक में छोटी-छोटी घटनओं का भी ब्योरा दिया गया है। शिवानी जी ने इसे अलग-अलग शीर्षक से इस संस्मरण को यादगार बनाते हुए अत्यन्त ही रोचक एवं प्रभावशाली शैली में इसे लिखा है।

पुस्तक के प्रथम उपशीर्षक है 'गुरुपल्ली'। इसमें शिवानी जी ने अपने और शान्तिनिकेतन में प्रवेश और परिचय के बारे में लिखा है –"परम श्रद्धेय गुरुदेव का मैंने प्रथम दर्शन सन् 1935 में किया। स्फटिक-सा गौर वर्ण, ज्वलन्त ज्योति से जगमगाते विशाल नयन, गोरे ललाट पर चंदन का शुभ्र तिलक, काला झब्बा और काली टोपी। यही थे आश्रमवासियों के हृदय-हार गरुदेव।"[12]

विभिन्न प्रकार के हास्य-बोध वाले अनेक प्रसंग से उनका वहाँ का जीवन शुरू होता है। धीरे-धीरे शिवानी जी वहाँ के लोगों और वातावरण में घुलने-मिलने लगीं। उनका डर, रवीन्द्र बाबू ने पहले दिन ही गायब कर दिया था। उन्होंने बाग्ला भी धीरे-धीरे सीख ली थी।

'गुरुदेव की कर्मभूमि' उपशीर्षक में लेखिका वहाँ के नियम, शिक्षक, मित्र पढाई-लिखाई के बारे में विस्तार से लिखती हैं। रवि बाबू स्वयं स्कूली शिक्षा

> ***रवीन्द्र बाबू एक संपूर्ण मानव थे। एक ऐसा व्यक्तित्व जो हार मानने वाला नहीं था, जिसने संपूर्ण विश्व को मानवता और विश्व-बंधुत्व का पाठ पढ़ाया। वे कोई कल्पनाशील लेखक नहीं थे, वे एक द्रष्टा थे। उनका संदेश आज भी हमें मनुष्यता की ओर अग्रसर कराता है।***

से भागकर स्वाध्याय किये। उन्हें घर पर ही शिक्षक पढ़ाने आते थे। स्कूल उन्हें कारागार प्रतीत होता था। इसलिए उन्होंने एक ऐसे शिक्षण संस्थान का स्वप्न देखा था जिसमें छात्र स्वतंत्र रूप से शिक्षा ग्रहण कर सकें, कठोर दंड का प्रावधान नहीं हो। एक स्वस्थ्य वातावरण हो। इसलिए शिक्षा-व्यवस्था की कोई भी त्रुटि गुरुदेव अपने आश्रम में नहीं चाहते थे। कोई भी छात्र किसी भी कक्षा में जाकर पढ़ाई कर सकता था। कक्षाएँ किसी भी पेड़ के नीचे लग जाती थीं। कक्षा में अनुशासन स्वत: आ जाता था। समय-समय पर घंटा बजता और वहाँ के कार्यकलाप होते रहते थे।

अंत में भावुक होकर शिवानी जी लिखतीं है- रवीन्द्र बाबू की लम्बी बीमारी ने आश्रम को काले बादल की तरह घेर लिया। एक दिन ऐसा आया जब पूरा आश्रम शोक में डूब गया। आश्रम का पालन हार कहीं गुम हो चुका था। यादें आँखों में और टीस हृदय में रह गई थी। रवि बाबू के सानिध्य में आठ वर्ष रहना किस्मत का लेखा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जितने बड़े साहित्यकार थे, रवीन्द्र बाबू के उतने ही प्रिय शिष्य। उन्हें शान्तिनिकेतन में बीस वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। गुरुदेव के सानिध्य में वे बारह वर्ष रहे। उनके साथ इतने लम्बे समय तक रहने की स्मृतियों को उन्होने संस्मरण मिश्रित जीवनी में अपनी लेखनी से संजोया है।

कवीन्द्र के जीवन के ग्यारह जन्मदिन मनाने का सौभाग्य द्विवेदी जी को भी प्राप्त हुआ। क्योंकि इस उत्सव के सिवा अन्य

उत्सव का भी पौरोहित्य द्विवेदी जी को ही करना होता था। इससे बड़ा सौभाग्य किसी शिष्य के लिए और क्या हो सकता है। द्विवेदी जी के ही शब्दों में, जब रवि बाबू इस दुनिया में नहीं रहे तो उनकी वेदना इन शब्दों में मुखर हो जाती है –''उन बड़ी-बड़ी प्रेमपूर्ण आँखों की जब याद आती है तो हूक-सी उठती है। आज हम उनका चित्र रखकर उनका जन्मोत्सव मनाते हैं, उनके विषय में व्याख्यान सुना करते हैं। कितना बड़ा भाग्य-विपर्यय है।''[13]

द्विवेदी जी ने रवि बाबू की परंपरा और संस्कार को आगे बढ़ाया। स्वयं नामवर सिंह जी ने अपनी किताब 'दूसरी परम्परा की खोज' में ये बातें कहीं है। उनके विचार से रवीन्द्र बाबू की ही प्रेरणा से द्विवेदी जी ने हिन्दी साहित्य को वह दिया जो इससे पूर्व किसी हिंदी साहित्यकारों ने नहीं दिया।

रवि बाबू की दिनचर्या जानने का कौतुहल हरेक व्यक्ति में स्वाभाविक रूप से है। महान व्यक्ति की छोटी या साधारण बातें भी उत्सुकता और जिज्ञासा की बातें बन जाती हैं। रवीन्द्र बाबू सुबह 4 बजे ही जग जाते थे। इस नियम को उन्होंने कभी तोड़ा नहीं। सुबह उठकर वे अपनी कुर्सी पर बैठकर सूर्योदय को देखते। वे शान्त भाव से वहीं कुर्सी पर अपना ध्यान करते।

आचार्य द्विवेदी जी के पास रवीन्द्र बाबू की इतनी स्मृतियाँ हैं कि कोई लिखने बैठे तो ग्रंथ और महाग्रंथ लिखा जाए। दो महामानव की यादें, इतने लम्बे वर्षों का सानिध्य कम शब्दों में लिख पाना असंभव और दुरूह कार्य है। स्वयं द्विवेदी जी के शब्दों में –''जब कभी कविवर रवीन्द्रनाथ के विषय में लिखने का प्रयत्न करता हूँ, तभी एक विषम समस्या उठ खड़ी होती है -कहाँ से शुरू करूँ? ''[14]

द्विवेदी जी ने रवि बाबू के संस्मरण और उनकी जीवनी को लिखकर एक ग्रंथ ही रच डाला। रवि बाब के संस्मरण को पढ़ना एक महामानव की चेतना से गुजरना है। यदि वह संस्मरण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी से व्यक्तित्व के हाथों लिखा जाय।

रवीन्द्र बाबू एक संपूर्ण मानव थे। एक ऐसा व्यक्तित्व जो हार मानने वाला नहीं था, जिसने संपूर्ण विश्व को मानवता और विश्व-बंधुत्व का पाठ पढ़ाया। वे कोई कल्पनाशील लेखक नहीं थे, वे एक द्रष्टा थे। उनका संदेश आज भी हमें मनुष्यता की ओर अग्रसर कराता है।

संदर्भ

1. मिश्र, बहादुर. कवीन्द्र रवीन्द्र. दिल्ली : अद्वैत प्रकाशन . 2016, 45
2. मिश्र, बहादुर. कवीन्द्र रवीन्द्र. दिल्ली : अद्वैत प्रकाशन . 2016, 46
3. मिश्र, बहादुर. कवीन्द्र रवीन्द्र. दिल्ली : अद्वैत प्रकाशन . 2016, 49
4. वर्मा, महादेवी. पथ के साथी. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन . 2008, 9
5. वर्मा, महादेवी. पथ के साथी. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन . 2008, 13
6. जोशी, शांति. पंत ग्रंथावली, भाग-6. न ई दिल्ली : रजाकमल प्रकाशन . 1976, 489
7. जोशी, शांति. पंत ग्रंथावली, भाग-6. न ई दिल्ली : रजाकमल प्रकाशन . 1976, 489
8. वर्मा, निर्मल. लेखक की आस्था. बीकानेर : वाग्देवी प्रकाशन . 2009, 26
9. कुमार, जैनेन्द्र. स्मृति पर्व. न ई दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन, 9
10. कुमार, जैनेन्द्र. स्मृति पर्व. न ई दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन, 9
11. कुमार, जैनेन्द्र. स्मृति पर्व. न ई दिल्ली : पूर्वोदय प्रकाशन, 13
12. शिवानी. आमादेर शान्तिनिकेतन . न ई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन . 2007, 11
13. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली. भाग-8. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन . 1981, 276
14. द्विवेदी, हजारी प्रसाद. हजारीप्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली, भाग-8. दिल्ली : राजकमल प्रकाशन . 1981, 305

*(सिद्धा टाउन, आटम-110
नारायणपुर, राजरहाट, बेराबेरी
कोलकाता-700136)*

मानवीय संवेदनाओं को उकेरती 'टूटी पेंसिल'

— पूजा

प्रायः संवेदना से तात्पर्य मानव मन से लिया जाता है। किसी वस्तु को देखकर मानव मन में नाना भाव-विचार उत्पन्न होते हैं। ये भाव-विचार आंतरिक एवं बाह्य स्तरों पर दिखाई पड़ते हैं। इस लौकिक जगत् में व्यक्ति सुख और दुःख दोनों ही प्रकार की अनुभूतियों को अनुभव करता है, जिसे संवेदना कहा जाता है। अंग्रेजी में संवेदना को 'सिंपैथी' अथवा 'फैलोफीलिंग' तथा मनोविज्ञान में 'सैसेशन' कहते हैं। 'संवेदना' शब्द मूल संस्कृत शब्द 'संवेद' से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ - सुख-दुःख का अनुभव, ज्ञान, बोध, प्रतीति इत्यादि है। 'संवेदन' शब्द पुल्लिंग है, 'आ' प्रत्यय जुड़ने से 'संवेदना' स्त्रीलिंग शब्द बना है। संवेदना का अर्थ प्रायः इन्द्रियों से लिया जाता है। जब कोई भौतिक जगत की वस्तु मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों को प्रभावित करती है तो वह चेतन हो उठती है। ''संवेदनाओं से प्रत्यय बनते हैं। अतः संवदनाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती है क्योंकि इनके सहयोग से ही हम अपना विश्लेषण ठीक-ठाक करने में समर्थ हो सकते हैं।'' रचनाकार साहित्य के माध्यम से संवेदना को अभिव्यक्त करता है। चूंकि साहित्य समाज की अभिव्यक्ति है। समाज में नित् घटनाएं घटित होती रहती हैं जिनका प्रतिबिंब साहित्य में अवलोकित होता है। साहित्य जगत् की सुप्रसिद्ध हस्ताक्षर हंसादीप कृत 'टूटी पेंसिल' कहानी संग्रह में वैश्विक फलक पर विद्यमान मानवीय संवेदनाओं को उकेरा गया है।

प्रवासी महिला रचनाकारों में हंसा दीप अपनी लेखनी के माध्यम से साहित्य जगत् में अमिट छाप बना चुकी हैं। इनका लेखन अबाध गति से जारी है। इनके चार उपन्यास (बंद मुट्ठी, कुबेर, केसरिया बालम और काँच के घर), सात कहानी संग्रह (चश्में अपने-अपने, प्रवास में आसपास, शत प्रतिशत, उम्र के शिखर पर खड़े लोग, छोड़ आए वो गलियाँ, चेहरों पर टँगी तख्तियाँ, मेरी पसंदीदा कहानियाँ और टूटी पेंसिल) प्रकाशित हो चुके हैं। 'बंद मुट्ठी' उपन्यास का गुजराती भाषा में तथा 'केसरिया बालम' उपन्यास मराठी भाषा में अनूदित हो चुका है। इनकी कहानियाँ भी विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनूदित हो चुकी हैं। अनेक पत्र-पत्रिकाओं के संपादक मंडल में इनका नाम दर्ज है। वर्तमान में लेखिका जी यूनिवर्सिटी ऑफ टोरंटो में हिंदी प्रवक्ता के पद पर कार्यरत् है। इनके द्वारा रचित शिवना प्रकाशन, सिहोर(म. प्र.) से प्रकाशित 'टूटी पेंसिल' कहानी संग्रह में कुल 18 कहानियाँ संकलित हैं जो मानवीय संवेदनाओं को उकेरने का प्रयास करती हैं।

'टूटी पेंसिल' शीर्षक कहानी में मिस रेमि के मनोमस्तिष्क में बनते स्केच को रेखांकित किया गया है। भारत में जन्मी मिस रेमि शिक्षिका होने के साथ-साथ लेखिका भी है। वह पैंसठ वर्ष के तकरीबन हो चुकी है। इन्हें अपने माता-पिता की मौत, भाई-बहन की असामयिक मौत की यादें सताती रहती थी। इन्हें शारीरिक रूप से कोई बीमारी नहीं थी वरन् वे मानसिक रूप से अस्वस्थ थी। प्रत्येक दो साल बाद इनका मेडिकल चेकअप होता। ब्लड टेस्ट, यूरिन टेस्ट, स्टूल टेस्ट, मेमोग्राम, सर्विकल केंसर, इकोकार्डियो इत्यादि। सभी रिपोर्ट सामान्य आने पर डॉक्टर क्लर्क इन्हें कहते कि, ''वही करो जो करती रही हो।'' उसके बाद इनकी दिनचर्या किचन, कक्षा और कलम के साथ यथावत् जारी रहती। इनके पति अंशु इनका बहुत ध्यान रखते थे, उन्हें इन पर गुस्सा भी आता कि अपना ध्यान नहीं

रखती। पति का यह प्रेम पत्नी को बहुत भारी पड़ता। वह अपने जीवन की रेखाओं के अंकगणित को लिखने के लिए हताशा में आकर पेंसिल पर इस कदर जोर देती है कि उस पेंसिल की तीखी नोक टूटकर गिर जाती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे पेंसिल की टूटी हुई नोक से वह भी टूट-टूटकर बिखर गई हो और चलते-चलते रूक गई हो। एक बार इनकी एक रिपोर्ट सही न आने पर इन्हें तुरंत हृदयरोग विशेषज्ञ से मिलना पड़ता है। यहाँ से इन्हें न्यूक्लिर स्ट्रेस टेस्ट के लिए भेजा जाता है। दोनों पति-पत्नी घबरा जाते हैं। अंशु का सारा गुस्सा पारावार पर चढ़ जाता है। उसे अपने दोनों बच्चों की चिंता सताने लगती है। मिस रेमि अपनी अनमोल धन संपदा को अपने पति व बच्चों को सौंप देती है। साथ ही अपने लिखे कहानी संग्रह को छपवाने के लिए भी कहती है। जैसे ही इनकी रिपोर्ट आती है तो इनके फैमिली डॉक्टर इन्हें फैमिली हिस्ट्री बताते हुए कहते हैं- ''आपके अपने अंक हो नार्मल हैं पर परिवार के हर सदस्य की हृदय रोग से मौत के साथ आपके अंक बढ़ते चले गए। और अब आप पैंसठ साल की हैं, इसीलिए इतनी हाई रिस्क में गयी।'' ऐसे में मिस रेमि के समक्ष परिवार के सारे सदस्य उपस्थित होने लगे और सोचने लगी कि उन्हें सब कुछ स्वयं ही झेल लिया और मुझ तक कोई आंच नहीं आने दी। वह पेंसिल को शार्प करके 'फैमिली हिस्ट्री' लिख देती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो पेंसिल में नई नोक बन गई हो और अपने परिवार को टूटने से बचा लिया हो। अतः विवेच्य कहानी के माध्यम से लेखिका ने उद्घाटित किया है कि मनुष्य को कदापि अपना संयम नहीं खोना चाहिए।

'घास' शीर्षक कहानी में दस मिलियन प्रोपर्टी के मालिक लीटो नामक पात्र के घास काटने की मनोदशा का चित्रांकन है। लीटो छः महीने लॉन में उगी घास की कटाई करता और छः महीने कड़ाके की ठंड में पड़ने वाली बर्फ को हटाने का कार्य करता। यही उसकी दिनचर्या थी। ''घास में खाद डालना, बीज डालना, जंगली घास को नियंत्रित करना, सूखी पत्तियों को एकत्र करना, ऐसे काम लीटो की झोली में रहते।'' घास और बर्फ ही इनकी जीविका थे। इसके अतिरिक्त इनका कोई अपना नहीं था। इनकी जन्मभूमि का किसी को कुछ पता नहीं था लेकिन कनाडा इनकी कर्मभूमि थी। इन्हें हर चीज विवरण में याद रहती। इन्हें मोहल्ले के इतिहास की पुरोधा पुस्तक कहा जाता था। लीटो अत्यंत संयत एवं कर्तव्यनिष्ठा से घास की कटाई करता लेकिन हरी-भरी घास के मध्य जब-तब जंगली घास-फूल आ जाते जिससे महिला क्रोधित हो जाती। लीटो कहता, ''यही तो दुनिया में भी होता है। बुराइयाँ तेजी से बढ़ती हैं अच्छाइयों को पीछे छोड़ देती हैं। जड़ से जब तक न काटो तब तक समाज के लिए कलंक बनी रहती हैं।'' जो समाज को अनवरत् जीर्ण-शीर्ण करती रहती हैं। यही बात घास पर चरितार्थ होती है। लीटो का बातूनी होना महिला को खटकने लगता है। बर्फ के लिए पैसे देना वह उचित नहीं समझती। जैसे ही बर्फीले दिनों की शुरआत होने लगती है तब उसे फिर से लीटो की याद आने लगती है, क्योंकि वह बर्फ को बाहर निकालने में असमर्थ पाती है। बर्फ के कारण दरवाजा भी बंद हो चुका था। वह जैसे-तैसे बर्फ हटाने का प्रयास करती तो अत्यंत थकावट महसूस करती, उसके बारह दिन मानों बारह बरस के समान प्रतीत हो रहे थे। लीटो उसे किसी काम से सामने वाले के घर में नजर आया, वह अपनी आप बीती लीटो को सुनाने लगती है। लीटो उसकी परेशानी को समझते हुए कहता है कि आप इतना परेशान होने की बजाए मुझे बुला सकती थी। यह सब सुनकर महिला के मन में लीटो के प्रति जो मैल था उसे लीटो ने दिमाग में उगी जंगली घास को काटने के लिए केमिकल्स द्वारा खत्म कर दिया गया था और महिला के अंतर्मन और बाह्य स्तर पर हरियाली ही हरियाली प्रस्फुटित होने लगी थी। विवेच्य कहानी लीटो के माध्यम से हर पल आनंदित जीवन जीने का संदेश देती है।

'उत्सर्जन' शीर्षक कहानी में पिता और पुत्र के मध्य माँ सेतु का कार्य करती है। बेटा जब भी अपने पिताजी के बारे में जानने-समझने का प्रयास करता है वह स्वयं को अपने पिताजी से दूर ही महसूस करता। माँ इन दोनों के मध्य एक अभेद लकीर थी। वह आइस बेक्रिंग का प्रयास करती लेकिन न बेटा और न ही बाप में कोई उत्साह दिखाई देता जो बाप-बेटे के रिश्ते को सहज बना पाते और अनगढ़ंत दीवार तोड़ पाते। भावनात्मक सपोर्ट से

लेकर इनकी सारी जरूरतें माँ से पूर्ण हो जाती थी जिनके पीछे पिताजी का हाथ था। एक दिन माँ के दुनिया से चल बसने पर इन्हें पिताजी का अकेलापन खटकने लगता है। सीमेंट और रेत से बने घर में शब्दों का कोई आदान-प्रदान नहीं हो पाता। बाप-बेटे का यह भावशून्य मौन रिश्ता धीरे-धीरे दरकने लगता है। अपनी पत्नी की मौत पर भी ये उनके कफन पर दो आँसू की बूंद नहीं गिरा पाते और न ही उदास प्रतीत होते। जैसे ही माँ की मौत को एक महीना व्यतीत हुआ पिताजी का मौन भंग होता है वह अपने बेटे से अपनी माँ की कब्र पर फूल चढ़ाने अपने साथ ले चलते हैं। दोनों के मध्य संवाद स्थापित होता है। पिताजी अपने अंतर्मन की तमाम बातें अपने बेटे से कह देते हैं। उनके मन की पीड़ाओं का उत्सर्जन अब मूर्त से अमूर्त की तरफ प्रस्थान कर चुका था। पिताजी के हाथ से कब्र पर फूल गिरते ही माँ का मुस्कुराता चेहरा उभर आया था। ''वही सेतु, दो किनारों की दूरी पाटने वाला।'' घर लौटते ही बेटा अपने पिताजी का सहारा बन उनकी उंगली पकड़ लेता है।

'अमत्र्य' शिक्षक कहानी में फिलीपींस से हाई स्कूल की परीक्षा पास सफाई कर्मचारी नोआ की प्रोफेसर बनने की दमित इच्छाओं का चित्रांकन है। बच्चों की छुट्टी के पश्चात् कक्षाओं में सफाई करते समय नोआ बोर्ड पर लिखे हुए शब्दों को मिटाकर उन्हें अपने मस्तिष्क में आकार देने का प्रयास करती। तदुपरांत आड़ी-तिरछी रेखाएँ बनाने का प्रयास करती और एक प्रोफेसर की भूमिका में वह नजर आती। ''उसकी प्रोफेसर बनने की दमित इच्छा को पूरा करने के लिए शरीर का हर अंग प्रयास करता। प्रोफेसर जैसे हाव-भाव तन-मन दोनों पर दिखने लगते।'' नोआ की सबसे प्रिय प्रोफेसर अनम स्वभाव से विनम्र और शिष्ट थी। इन्होंने नोआ को बोर्ड पर लिखते देखा था जो अपने मृत्य सपनों को अमृत्य बनाने में प्रयासरत रहती। लेकिन अगले ही पल यथार्थ उसकी उम्मीदों के आड़े आ जाता। आर्थिक रूप से अक्षम नोआ भगवान से प्रार्थना करती कि उसका इकलौता बेटा उसकी दमित इच्छाओं को पूर्ण कर प्रोफेसर बनने का सपना साकार करे। प्रोफेसर अनम वाइस डीन, वाइस डीन से डीन के रूप में पदोन्नति पाकर जानी मानी संस्था की सर्वेसर्वा हो गई थी। कुछ समय पश्चात् संस्था के किसी कार्यक्रम में नोआ अपनी पोती नोएमी के साथ व्हील चेयर पर आई थी। आते ही वह अनम से अपनी पोती का परिचय कराती है जिन्होंने अपनी दादी का सपना साकार किया। असिस्टेंट प्रोफेसर नोएमी नोआ। डीन पद पर कार्यरत अनम ने नोआ को लेकर स्पीच दी कि जिन कमरों में दादी नोआ झाड़ू पोंछा करती थी आज उसी जगह उसकी पोती प्रवक्ता पद पर नियुक्त हुई है। अंततः नोआ का अमत्र्य सपना साकार हुआ। पढ़ाई से टूटे हुए रिश्ते को नोआ अपनी पोती की खुशियों से जोड़ने में सक्षम होती है।

'श्वान' शीर्षक कहानी में इंसानों की श्वानों के प्रति संवेदनहीनता को चिन्हित किया गया है। कहानी में मृत श्वान को इंसान मिट्टी न देकर श्वान ही मिट्टी देता है। वर्तमान में मनुष्य में मानवीयता का ह्रास होता जा रहा है। वह स्वार्थ के वशीभूत होकर संवेदनहीन बन चुका है। ऐसे में श्वान की श्वान के प्रति संवेदनशीलता को देखकर ही ऐसी कहानियों का जन्म होता है। 'जिंदा इतिहास' शीर्षक कहानी 12 साल की लड़की परी की संवेदनाओं को चित्रित करती है। उसे चित्रकारी का बहुत शौक है। वह चित्रकारी के माध्यम से अनेक पुरस्कार जीत चुकी थी। एक बार आर्ट गैलरी ऑफ ओंटेरियो से अंतर्राष्ट्रीय चित्र प्रतियोगिता की विज्ञप्ति को देखकर परी आश्चर्यचकित और प्रफुल्लित हो उठती है। इनके मम्मी पापा इन्हें अनेक सुझाव देते हैं लेकिन परी एक कलाकार की भूख की तरह नये-नये विषयों को तलाशती रहती है। वह अपनी पसंद के पंद्रह चित्रों का चयन कर तथा आँखें बंद करके किसी एक को चुनने के लिए ''इनी-मीनी-माइनी-मो-एक'', ''इनी-मीनी-माइनी-मो-दो'' से लेकर दस तक गिनती करती है तो परी का हाथ अपनी दादी के चेहरे पर पड़ता है। परी अपनी दादी के चेहरे पर असंख्य सिलवटें देखकर उन्हें कागज पर उकेरकर जीवंत हँसी को अंकित करती है। परी द्वारा दादी की लिविंग हिस्ट्री यानी जिंदा इतिहास को कागज की लकीरों में बदल कर ऐसा प्रतीत हो रहा था मानों ''तमाम झुर्रियों में हँसी थी, लेकिन हँसी में कोई झुर्री नहीं थी।'' 'आसमान' शीर्षक कहानी में विमान में सफर करते यात्रियों की संवेदना

का चित्रांकन है। विमान में किसी शिशु के जोर-जोर के रोने से विमान में बैठे यात्रियों के लिए ऐसा प्रतीत हो रहा था जैसे उसने अपनी रोने की आवाज से संपूर्ण आसमान उठा लिया हो। ऐसे में शिशु को चुप कराने के लिए डॉ. ट्रिशा एक शिक्षक की भाँति मदद करती है। 'सिरहाने का जंगल' शीर्षक कहानी में लेखिका ने एक महिला की संवेदना को चित्रित करते हुए लूनी-टूनी (कैनेडियन सिक्का) के मध्य जीवन के प्रत्येक मोड़ पर तिल-तिल मरती स्वयं को जिंदा लाश दर्शाया है। 'मैं' शैली में रचित 'विखंडित' शीर्षक कहानी में भिन्न परिवेश से संबंधित दो लड़कियों के अपने-अपने परिवार, देश से विखंडित जीवन को आलोकित किया है। लगातार चल रहे युद्धों से वैश्विक उत्तेजना के शिकार हुए इराक, अफगानिस्तान तथा यूक्रेन जैसे नेस्तनाबूत देशों का क्षत विक्षत मानव जीवन किस प्रकार इन लड़कियों के मन को वितृष्णा से भर देता है। इनके विखंडित जीवन को लेकर आगे क्या समाधान हो सकता है? तरह-तरह के प्रश्न मनोमस्तिष्क में उद्वेलित होते रहते हैं।

'हलाहल' शीर्षक कहानी में लेखिका ने हिंदी की शिक्षिका की संवेदना को अभिव्यक्त किया है। किस प्रकार बिगिनर्स कोर्स की कक्षा के अहिंदी भाषी छात्र सवाल पर सवाल पूछते हैं। हिंदी शिक्षिका छात्रों के सभी सवालों के तार्किक जवाब देती है और सहसा उनके मुख से 'भगवान' शब्द निकल पड़ता है। इस पर छात्रों का त्वरित प्रश्न- "भगवान शब्द किस धर्म का शब्द है?" हिंदी शिक्षिका कातर निगाहों से छात्र को तकती रहती है। उसके सामने अजीब प्रश्नचिह्न खड़ा हो जाता है। वह कहती है भगवान हिंदी का शब्द है। भाषा किसी धर्म में नहीं बंटती, लेकिन प्रश्नकत्र्ता कहता है जब रंग धर्मो में बंट गए हैं तो भाषा भी तो धर्मो में बंट सकती है। 'कुहासा' शीर्षक कहानी में लेखिका ने एक माँ की संवेदना पर प्रकाश डाला है। जो माँ जरा-सी बात पर झन्ना उठती थी वह अवि के सफेद मर्सिडीज गाड़ी ठोकने पर बिल्कुल शांत नजर आती है। इनकी चुप्पी को लेकर अवि, इला और इनके पिताजी सब प्रयासरत हैं कि वह अपनी चुप्पी तोडे और उन्हें डाँटे, धमकाए, लेकिन अब वह थक चुकी थी। "अब शांति चाहती थी सोचा, क्यों चिल्लाना, किसके लिए चिल्लाना! आदमी खुद गलती करे, खुद समझे न समझे तो फिर ठोकर खाकर गिरेगा, खुद उठेगा और संभलने की कोशिश करेगा। जो करे, वह जाने। दर्द न रहा। जब दर्द न रहा तो गुस्सा काफूर हो गया।" जब वह सभी को अपनी-अपनी जिम्मेदारी लेने को कहती है तो ऐसा प्रतीत होता मानों घर स्वअनुशासित होकर घर में छाया कुहासा छँट कर माँ के लिए आकाश साफ हो गया हो।

'अप्रत्याशित' शीर्षक कहानी में लेखिका ने एक ऐसे दंपत्ति की संवेदना को चित्रित किया है जो अपने दोस्त बिपिन बापू सेनगुप्ता की पत्नी की मृत्यु होने पर उसे सांत्वना देने के लिए फोन पर बातें करते हैं। हालांकि बिपिन बापू सेनगुप्ता के पिताजी का निधन हुआ था पत्नी का नहीं। बिपिन बाबू सेनगुप्ता से फोन पर बातें करते हुए उसे ढ़ाढ़स बंधाते हुए वामा स्वयं फोन की स्क्रीन पर प्रकट हो जाती है। "राहा को देखकर आज जैसा लगा, वैसा कभी न लगा था। हम दोनों की आँखों ने संकेत दे दिया था कि सामने कोई भूत-प्रेत नहीं, स्वयं राहा है। तो क्या अब तक हम जिंदा पत्नी का शोक जता रहे थे।" तत्पश्चात दोनों पति-पत्नी अपनी मेल चेक करते हैं और पता चलता है कि जिन बाबू की पत्नी का देहांत हुआ है वे हमारे शहर के बाबूलाल गुप्ता थे। एक अप्रत्याशित मौत और अप्रत्याशित जिंदगी की खबर ने दोनों को झिंझोड़ कर रख दिया था। 'आईना' शीर्षक कहानी में लेखिका ने एक रचनाकार की संवेदना को अभिव्यक्त किया है। आईना का कार्य है वस्तुओं को ज्यों का त्यों प्रतिबिंबित करना किंतु मानव इसमें अपने बिंब को अपनी संवेदना के अनुसार ही आत्मसात् करता है। आईना सुंदरता, कुरूपता और यथार्थ को प्रतिबिंबित करता है लेकिन कहानी की पात्रा स्वयं के सौंदर्य बिंब को देखने की अभिलाषी है। वह आइने के साथ-साथ सामाजिक पृष्ठभूमि पर भी देखने की इच्छुक है लेकिन जब समाज उसकी इच्छा के विरूद्ध प्रतिबिंब बनाता है तो उसे अपनी गलती का एहसास होता है। तत्पश्चात् उसकी संवेदनाएं परिवर्तित हो जाती है और वह आईने में अपने सौंदर्य को देखने की अपेक्षा यथार्थ सत्य को आत्मसात कर पुष्ट होती है।

'मूक सूरज' शीर्षक कहानी में

लेखिका ने वृद्ध पैट्रीशिया की संवेदना को चित्रित किया है। जिस प्रकार बारिश के दौरान सूरज दिखाई नहीं देता वह मूक बना रहता है ठीक उसी प्रकार पैट्रीशिया जीवन के अंतिम मोड़ पर अकेलेपन से ग्रस्त जीवन जीने पर विवश हैं। घर में न बच्चे हैं और न ही कोई बात करने वाला। इंसानों के चेहरे देखने को पैट्रीशिया का दिल तरस जाता था। "उम्र का यह पड़ाव इस मौसम के मूक सूरज की तरह था जिसमें न चमक रही, न रोशनी पर फिर भी इसे अपना समय चक्र तो पूरा करके ही जाना था।" ऐसे में वह पास के ग्रॉसरी स्टोर में जाने लगती है वहाँ पर वह घूम-घूमकर अपनी कसरत करती और जरूरत के अनुसार कुछ सामान खरीद लेती। मैनेजर पीटर इन पर निगाह रखने लगता है और उन पर चोरी का आरोप लगाता है। पैट्रीशिया कोई प्रतिक्रिया न कर मूक बन सिर झुकाकर चली जाती है। जैसे ही पुलिस चोर को पकड़ने आती है तो वह सीसीटीवी फुटेज लेकर चली जाती है। एक सप्ताह बाद पुलिस फिर ग्रॉसरी स्टोर आती है और पीटर को ऑफिस में बुलाया जाता है, तत्काल उसे उसकी नौकरी से बरखास्त कर दिया जाता है क्योंकि पैट्रीशिया ने कोई चोरी नहीं की थी। पीटर ने ही पैट्रीशिया के कैशियर पेमेंट के बाद उसकी कार्ट में सामान का बैग खिसका दिया था। यदि पेट्रिशिया का पोता पुलिस में न होता तो शायद उसकी कोई सुनवाई न होती। इस प्रकार लेखिका ने विवेच्य कहानी के माध्यम से दर्शाया है कि न जाने कितने सारे लोग इस तरह के तंत्र का शिकार होते हैं। यह कहानी जैसा बोया वैसा काटा' लोकोक्ति को चरितार्थ करती है यानी मनुष्य जैसा बीज बोता है वैसा ही उसे काटना पड़ता है।

'पेड़' शीर्षक कहानी के माध्यम से लेखिका ने वृद्धजन की संवेदना का मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। जिस पेड़ की सघन छाया, फल, सुंदरता, धूप-सर्दी से प्रतिरक्षा का लुत्फ चारों परिवार उठाते थे, एक दिन उसी पेड़ के आँधी तूफान में गिर जाने पर उसे उठाने और साफ-सफाई के खर्च से बचने के लिए वे सभी पीछे हट जाते हैं। सरकारी कर्मचारियों के द्वारा ही पेड़ उठाया जाता है और वहाँ साफ-सफाई की जाती है। इसी परिप्रेक्ष्य में लेखिका ने एक पिता की चार संतानें होने के बावजूद वह अपने ही घर में स्वयं को पराया महसूस करता है। चार हिस्सों में बँटे पिताजी को एक-एक महीना अपने बेटों के पास रहना पड़ता है। "एक महीने रखने के बाद शेष तीन महीनों की चिंता-फिकर कम से कम तीन भाईयों के परिवार को नहीं करनी पड़ेगी।" अपनी संतानों पर सर्वस्व न्यौछावर करने वाले पिताजी के वृद्ध होने पर इनकी जिम्मेंदारी को बोझ समझकर उठाने का लेखिका ने बेटों की संवेदनहीनता और भावशून्यता का यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण किया है।

विवेच्य कहानियों के माध्यम से लेखिका ने उद्घाटित करने का प्रयास किया है कि दैनंदिन के क्रियाकलापों से आकार लेती ये कहानियाँ इंसानी रिश्तों/मानवीय संवेदनाओं को एक-दूसरे से जोड़ती हैं तो साथ ही इन इंसानी रिश्तों में जंगली घास जैसा जंगलीपन भी चित्रित करती हैं। लेखिका ने इन कहानियों को व्यक्तिगत संवेदनाओं से परे उठकर वैश्विक धरातल पर नवीन शिल्प और कथ्य के साथ सरल, सहज एवं भावपूर्ण शैली में उकेरकर सिद्धहस्तता हासिल की है।

संदर्भ

1. राजकमल वोरा, संवेदना और सौंदर्य, पृ. 52
2. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 09
3. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 19
4. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 20
5. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 23
6. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 32
7. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 34
8. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 54
9. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 86
10. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 92
11. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 100
12. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 126
13. हंसा दीप, टूटी पेंसिल, पृ. 138

*(शोधार्थी, हिंदी विभाग,
महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय,
रोहतक, हरियाणा-124001)*

उसका अस्सीवाँ जन्मदिन

— अर्चना पैन्यूली

रेनुका आज सुबह उठी तो सब कुछ पहले जैसा ही था—वही कमरा, वही खिड़की से झाँकता आसमान, वही धीमी-धीमी ठंडी हवा। लेकिन भीतर कुछ अलग सा अहसास था। आज वह अस्सी साल की हो गई थी!

"वाह!" उसने हल्के से अपने कंधे थपथपाए और मुस्कुरा दी। लेकिन तभी एक सवाल मन में दस्तक देने लगा—अब आगे कितना समय बचा है? पाँच साल? दस साल? पंद्रह? या शायद अगले ही पल...?

उसने धीरे-धीरे अपनी हथेलियों को देखा—इन हाथों ने ज़िंदगी के कितने रंग देखे थे। पर अब इन पर हल्की झुर्रियाँ थीं, नसें उभर आई थीं। कोलेस्ट्रॉल, ब्लड प्रेशर, शुगर—सब कुछ संतुलन की सीमा पर झूल रहा था। हड्डियों और जोड़ों का दर्द कभी-कभी इतना बढ़ जाता कि चलना-फिरना भी मुश्किल हो जाता। चेहरा आईने में अब पहले जैसा नहीं दिखता था, एक अनजानी कसक वहाँ भी थी। और फिर मृत्यु का भय दबे पाँव उसके भीतर उतरने लगा।

वह याद करने लगी—अपार्टमेंट में कई बुज़ुर्ग अकेले दम तोड़ चुके थे। किसी की लाश तीन-चार दिन बाद मिली थी, किसी की हफ़्तों बाद। उसकी पड़ोसन हेनरियता—जिसे वह रोज़ पार्क में देखा करती थी—एक दिन अचानक गायब हो गई थी। जब लोगों ने संदेह जताया और दरवाज़ा तोड़ा गया, तो वह कालीन पर गिरी मिली, अपने फोन के पास, लेकिन अब किसी कॉल का जवाब देने के लिए नहीं।

रेनुका का मन काँप गया। क्या उसका भी ऐसा ही होगा?

क्या एक दिन वह और प्रमोद भी कहीं इसी तरह अकेले रह जाएंगे? क्या उनकी गैरमौजूदगी का एहसास किसी को तभी होगा जब घर से दुर्गंध आएगी?

"नहीं! यह मैं क्या सोच रही हूँ!"

उसने एक झटके में अपने विचारों को झटक दिया। यह दिन मृत्यु के बारे में सोचने का नहीं था!

"आज मेरा जन्मदिन है! यह ज़िंदगी का जश्न मनाने का दिन है, न कि उसके अंत की चिंता करने का!"

उसने गहरी सांस ली, बिस्तर से उठी और हल्के कदमों से खिड़की की ओर बढ़ी। सूरज के आगमन की आहट होने लगी थी।

रेनुका मुस्कराई। हर दिन एक नई शुरुआत है। जो समय बचा है, उसे वह ख़ुशी से, हंसी के साथ और अपनों के बीच जीएगी।

जब तक साँसें हैं, तब तक ज़िंदगी को पूरे जोश से जिएगी। मौत जब आएगी, तब देख लेंगे... अभी ज़िंदगी के हर लम्हे को संजोने का वक्त है! सोचते ही उसने नए दिन का स्वागत किया—एक नई ऊर्जा, एक नई मुस्कान के साथ।

ड्राइंगरूम में आते ही उसने देखा, प्रमोद कंप्यूटर पर कुछ टाइप कर रहे थे। उसे देखते ही वे मुस्कुराए, कुर्सी से उठे और प्यार से बोले, “जन्मदिन मुबारक! अस्सीवाँ जन्मदिन!” कहकर उन्होंने उसे अपने गले से लगा लिया।

रेनुका हल्की-सी झिझक गई। इस पकी उम्र में भी यह अपनापन, यह स्नेह...! उसके चेहरे पर अनायास ही लाज की हल्की लकीर खिंच गई।

“और ये तुम्हारे लिए बर्थडे गिफ्ट, ” प्रमोद ने दो रंगीन पैकेट उसकी ओर बढ़ाते हुए कहा।

रेनुका ने उत्सुकता से गिफ्ट खोले। एक में बड़े प्रिंट वाली डिजिटल घड़ी थी, ताकि समय साफ़-साफ़ दिखे, और दूसरे

में इलेक्ट्रिक हीटिंग पैड, जो जोड़ों के दर्द में राहत देने के लिए था।

उसने पैकेट्स को पलटा, एक नज़र प्रमोद की ओर डाली, और फिर नाक-भौं सिकोड़ ली।

"ये क्या? मैंने तो सोने की चेन मांगी थी!"

प्रमोद हँस पड़े, "तुम्हारे पास वैसे भी ढेर सारे जेवर हैं, जो कभी लॉकर से बाहर ही नहीं निकलते। इस उम्र में एक और सोने की चेन लेकर क्या करोगी?"

रेनुका ने नाराज़गी से कहा, "मैंने खासतौर पर कहा था कि एक मोटी, लंबी चेन चाहिए, जिसे आसानी से गले में डाल और उतार सकूँ।"

प्रमोद ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया, "अगले जन्मदिन पर ले दूँगा।"

रेनुका ने हल्की तल्खी से कहा, "अगला जन्मदिन? पता नहीं तब तक ज़िंदा भी रहूँगी या नहीं।"

प्रमोद ने उसकी ओर देखा और मज़ाकिया लहज़े में चुटकी ली, "अरे! खाने-पीने और सजने-संवरने का इतना शौक़ रखती हो, खूब जीओगी।"

रेनुका ने आँखें तरेरीं, लेकिन चेहरे पर मुस्कान थी।

सच, ज़िंदगी की असली चमक गहनों में नहीं, इन हँसी-ठिठोली में ही तो थी!

अड़तालीस साल पश्चिमी यूरोप में बिताने के बावजूद, वे अब भी अपनी कुछ पूर्वी आदतों से मजबूर थे। सुबह होते ही शरीर की घड़ी उन्हें ब्रह्ममुहूर्त में उठा देती। नींद से जागते ही सबसे पहले रसोई की ओर बढ़ते, पानी गर्म करते और उसमें तुलसी की पत्ती व नींबू निचोड़कर पीते। यह दिनचर्या कभी नहीं बदली थी।

"आपने पानी पी लिया?" रसोई की ओर बढ़ते हुए रेनुका ने पूछा।

प्रमोद ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया, "पानी भी पी चुका हूँ और चाय भी।"

रेनुका चौंकी, "कब से उठे हो, भई?"

"मैं तो हमेशा की तरह ही उठा, आज तुम ही देर से उठी हो!" प्रमोद ने हल्के मज़ाकिया लहज़े में कहा।

"अच्छा!" घड़ी पर नजर डाली, "ओह बाप रे, साढ़े सात!"

वह झटपट नित्य कर्मों में जुट गई। स्नान के बाद रसोई में जाकर सूजी का हलवा बनाने लगी। हलवे की महक फैलते ही प्रमोद ने रसोई में झाँका और बोले, "हलवा थोड़ा ज़्यादा बना दो!"

"क्यों?" रेनुका ने सवाल किया।

"अरे भई, कुछ दिनों तक खाते रहेंगे। आखिर तुम्हारा माइलस्टोन बर्थडे जो है, इसे मनाने में कंजूसी क्यों!" प्रमोद ने हँसते हुए कहा।

रेनुका मुस्कुरा दी। आज उसने पूजा भी लंबी की, फिर हल्का योगाभ्यास किया। प्रमोद को प्रसाद में हलवा दिया और खुद मोबाइल पर मैसेज चेक करने लगी। लेकिन... कोई जन्मदिन की शुभकामना नहीं! न व्हाट्सऐप ग्रुप में, न भारत से मायके या ससुराल वालों का कोई संदेश!

वह भुनभुनाई, "अभी तक किसी का भी बर्थडे मैसेज नहीं!"

प्रमोद ने लापरवाही से कहा, "आ जाएँगे... अभी दिन शुरू ही हुआ है!"

"अरे भई, भारत से तो कोई मैसेज आना चाहिए था! वहाँ तो दोपहर हो चुकी होगी!" रेनुका की आवाज़ में हल्की शिकायत थी।

ईमेल चेक किया, तो वहाँ सिर्फ उन कंपनियों के बधाई संदेश थे जिनमें उनके म्यूचुअल फंड के निवेश थे। उसने गहरी साँस ली, "क्या ज़माना आ गया! अपने तो भूल जाते हैं, और कंपनियाँ अपने क्लाइंट्स का बर्थडे याद रखती हैं!"

थोड़ी देर बाद उसने सोचा, 'चलो, खुद ही थोड़ा सेलिब्रेट किया जाए!' फ्यूटेक्स सुपरमार्केट खुलने का इंतजार करने लगी। पहले से तय था कि अपने जन्मदिन पर वहाँ जाकर खुद के लिए कॉफ़ी और केक खरीदेगी। आखिर, हर खुशी किसी और के इंतजार में नहीं छोड़ी जा सकती।

बच्चों के फोन तो रात में ही आएँगे। एक अमेरिका में था, दूसरा कनाडा में। दोनों छह घंटे पीछे थे। इस वक़्त तो वे गहरी नींद में होंगे। वह किसी को दोष नहीं देती। यह नियति थी, समय का चक्र था। उन्होंने अपने माता-पिता को छोड़कर भारत से डेनमार्क का सफर किया था... अब उनके बच्चे उन्हें छोड़कर उत्तरी अमेरिका चले गए।"

उसे अपने माता-पिता की बातें याद आईं— "मत जाओ, अपने देश में ही रहो!" फिर वे दिन भी आए जब उन्होंने अपने बच्चों से कहा, "मत जाओ, यहीं रहो!" लेकिन जीवन हमेशा अपनी शर्तों पर नहीं चलता। न सब कुछ अपने

मुताबिक होता है, न सब कुछ सौ फ़ीसदी सही।

"जिंदगी को अपनी धारा में बहने देना ही सही है..." रेनुका ने मन ही मन सोचा और खुद के लिए चाय तैयार करने लगी।

xxx

यह पहले से तय था कि रेनुका अपने जन्मदिन पर कोई काम नहीं करेगी। लेकिन प्रमोद, जो कम्प्यूटर पर पूरी तरह से मग्न थे, हिलने का नाम नहीं ले रहे थे। वह मन ही मन थोड़ी नाराज़ हो गईं और सोचा, 'आज के दिन अगर मुझे एक पल भी आराम न मिले तो क्या होगा?' उसने प्रमोद से साथ चलने के लिए कहा, "चलो न, आज मेरा जन्मदिन है!"

लेकिन प्रमोद बिना मुंह उठाए बोले, "मुझे जरूरी काम है।"

रेनुका का चेहरा थोड़ी देर के लिए उतर गया, लेकिन फिर उसने खुद को संभाला और बोली, "ठीक है, मैं अकेले ही चली जाती हूँ।"

मन में एक हलकी सी खिन्नता लिए वह अकेले ही घर से बाहर निकली। कई सालों से अपनी सोसाइटी के आसपास रहने वाले कुछ बुजुर्गों से उसने दोस्ती करली थी। वह जानती थी कि जीवन में सिर्फ पति का साथ ही पर्याप्त नहीं होता, कुछ दोस्त भी ज़रूरी होते हैं। खासकर, जब आप विदेश में अकेले होते हो। अपने देशी भारतीय मित्र एक अलग ही एहसास देते हैं, तो वहीँ दूसरी तरफ, गोरे विदेशी दोस्त भी कुछ अलग ही अहसास छोड़ जाते हैं।

जब वह जवान थी, तो बुड्ढों के पास से शान से निकल जाती थी, सोछा नहीं था, कभी वह भी बूढ़ी होगी।' लेकिन आज वह महसूस कर रही थी कि यह भी ज़िन्दगी का अहम हिस्सा है, और अब बुज़ुर्गों की टोली में बैठना भी कोई बड़ी बात नहीं।

एलीवेटर से नीचे उतर कर, वह फ्यूटेक्स सुपरमार्केट की ओर बढ़ी। सुपरमार्केट के कैफे में बैठते हुए, वह अपने पुराने दोस्तों का इंतजार करने लगी। जल्दी ही तीन बुजुर्ग और वहाँ आ गए - अनैता, बेन्टे, और लॉरा। लॉरा, जो उससे दो साल छोटी थी, मूलतः मैक्सिको की थी और एक डेनिश से शादी करके यहाँ बस गई थी। किसी कारण से रेनुका को उससे एक अलग सी आत्मीयता महसूस होती थी।

थोड़ी देर में, जोर्गन अपनी पत्नी को व्हीलचेयर में धकेलते हुए आए। उनकी पत्नी, जो 86 साल की थीं, अब अपनी पूरी सुध-बुध खो चुकी थीं, लेकिन जोर्गन बेहद निष्ठा से पत्नी की सेवा करते थे। इसके बाद 85 साल की ईसाबेला भी अपने वॉकर के सहारे वहाँ पहुंची। वह ओल्ड-ऐज होम में वेटिंग लिस्ट पर थी, और वहाँ जगह मिलने का इंतजार कर रही थी।

रेनुका ने सभी को देखा और हल्का सा मुस्कुराई। उम्र के साथ, रंगभेद, संस्कृति, और मूल्य प्रणालियों से संबंधित उनके सभी मतभेद जैसे धुंधले हो गए थे। यह तथ्य कि वे सभी एक ही पीढ़ी के थे, उनके बीच सबसे मजबूत बंधन बन चुका था।

अब वे एक दूसरे से अपनी बीती ज़िन्दगी की बातें करते। शारीरिक समस्याओं की चर्चा, बच्चों और नाती-पोतों के बारे में बातचीत... जीवन की अनगिनत परतें एक साथ खुलने लगती।

इसी बीच, रेनुका का मोबाइल बजा। उसकी छोटी और बड़ी दोनों बहनों ने जन्मदिन की ढेर सारी शुभकामनाएं भेजीं। उनका दिल खिल उठा। फिर उसने व्हाट्सएप चेक किया। स्थानीय मित्रों से भी बर्थडे मेसेज आने शुरू हो गए थे। उसने कुछ पढ़े, कुछ बाद में पढ़ने के लिए छोड़ दिए।

फिर, जब तीसरी बार फोन बजा, तो रेनुका ने मुस्कुराते हुए सभी से कहा, "इ डे मीन फ्युसेल्सडेग - आज मेरा जन्मदिन है!"

"नोह... डी एय सो डाईलिग्त! -अच्छा... बहुत खूब!" आसपास बैठे सभी बूढ़े चहके।

"टिल्लयूका - हार्दिक बधाई!"

तीसरा फोन रेनुका को उसकी देवरानी का था। फोन उठाते ही देवरानी ने बड़े प्यार से कहा, "हैप्पी बर्थडे दीदी! आज तो आपको बहुत खुश रहना चाहिए।" रेनुका मुस्कुराई और धन्यवाद कहा।

बहरहाल, फ्यूटेक्स की कैफे की सेल्सगर्ल को भी यह खबर मिल गई कि आज रेनुका का खास दिन है। वह और उसके साथ वाले बुज़ुर्ग कैफे के नियमित ग्राहक थे, तो उसे भी यह मौका नहीं छोड़ना था। उसने तुरन्त केक मंगवाया

और चारों ओर मोमबत्तियाँ सजा दी। जब रेनुका ने केक काटा, तो बाकी सभी बुज़ुर्गों ने जोरदार तालियाँ बजाईं।

तब, डेनिश जन्मदिन गीत गाया गया:

"I dag er det Renukas fødselsdag! Hurra! Hurra! Hurra!"

(आज रेनुका का जन्मदिन है! हुर्रा! हुर्रा! हुर्रा!)

वह गाने की धुन में झूमने लगी, उसके चेहरे पर खुशी की चमक थी। चॉकलेट्स केक और मोमबत्तियों के बीच, उसका जन्मदिन मनाया गया। जब सभी बुज़ुर्ग एक-एक करके उसके गले लगे, तो रेनुका की आँखों में आंसू आ गए। यह वे लोग थे जिनके साथ उसकी ज़िन्दगी के हर पल की खूबसूरती बसी थी – यही था उसका संसार।

कॉफ़ी और केक के साथ ढेर सारी गपशप करने के बाद, डेढ़ घंटे बाद वह घर लौट आई। घर पहुँचते ही वह बोली, “नीचे बेकरी में मेरा जन्मदिन मनाया गया!” उसकी आँखों में खुशी थी, चेहरे पर मुस्कान।

प्रमोद ने बिना किसी उत्साह के जवाब दिया, “अच्छा! बहुत बढ़िया! तुम तो यही चाहती थी न! तो, मन गया तुम्हारा जन्मदिन।”

“मगर आप नहीं आए, ” उसने हल्की शिकायत के लहजे में कहा।

प्रमोद ने सिर झुका कर कहा, “तुमने तो पता नहीं किस-किस से दोस्ती कर रखी है, मुझे नहीं पसंद तुम्हारे वे दोस्त।”

रेनुका ने झुंझलाते हुए कहा, “मेरा तो आज कॉफ़ी और केक का ब्रेकफास्ट हो गया। आप क्या खाओगे?”

“अभी कुछ नहीं चाहिए, ” प्रमोद ने स्क्रीन पर ध्यान देते हुए जवाब दिया।

“यह क्या हर वक्त कम्प्यूटर पर लगे रहते हो?” वह अब तक काफी खीज चुकी थी, लेकिन फिर भी कुछ न बोला। कोई जवाब नहीं था। पति की यह बेरुखी उसे हमेशा ही सालती थी। यह आज की बात नहीं, पिछले अट्ठावन सालों से, जबसे शादी हुई थी, वह इसे झेल रही थी।

समय वैसे भी जैसे कटता नहीं है। अभी सुबह के ग्यारह बजे थे। रेनुका सोच रही थी, क्या करूँ? क्या अब कुछ नया किया जाए? उसने प्रमोद से याद दिलाया, “आपने कहा था कि आज मेरे लिए अच्छा सा भोजन बनाएंगे।”

“तुम्हारा तो लंच हो चुका, ” प्रमोद ने बिना सिर उठाए जवाब दिया।

“एक छोटा सा केक ही खाया है, ब्लैक कॉफ़ी के साथ। आप कुछ इंडियन बनाओ तो खा लूंगी। थोड़ा ओवरवेटिंग कर लूंगी। आज मेरा माइलस्टोन जन्मदिन है, ” वह हंसते हुए बोली।

प्रमोद मुस्कुराए, “बनाता हूँ, तुम तब तक थोड़ा टहल कर आ जाओ। घर पर रहोगी तो अपनी चकर-चकर से मुझे डिस्टर्ब ही करती रहोगी।”

वह अकेले ही टहलने निकल पड़ी। ठंडी हवा के हल्के झोंके उसके चेहरे को छूते हुए मानो उसे अतीत की गलियों में वापस ले जा रहे थे। चलते-चलते वह अपनी बीती ज़िंदगी पर मनन करने लगी—एक आत्मचिंतन, एक सफर, जो बीस से अस्सी की दहलीज़ तक का था।

बीस से तीस का दशक उसने अपने देश, भारत में बिताया। पढ़ाई पूरी की, फिर प्रमोद के साथ विवाह हुआ। गृहस्थी संभालते हुए एक अध्यापिका की नौकरी भी हासिल कर ली। दो प्यारे बच्चों की किलकारियों ने उसकी दुनिया को और रोशन कर दिया।

बत्तीस की उम्र में वह प्रमोद के साथ डेनमार्क चली आई। प्रमोद को वहां नौकरी मिली थी, और वह अपने सपनों को एक नए देश में आकार देने निकले थे। तब उनके बच्चे मात्र नौ और पाँच साल के थे।

विदेश की धरती पर पैर जमाना आसान नहीं था। तीस से चालीस के बीच का समय संघर्ष और नए अनुभवों से भरा रहा। भोपाल के घरेलू माहौल में पली-बढ़ी लड़की के लिए एक नया देश, एक नई भाषा, और एक नई संस्कृति से तालमेल बिठाना किसी चुनौती से कम नहीं था। प्रमोद एक रिसर्च सेंटर में वैज्ञानिक थे, और उसने भी कई छोटे-मोटे काम करते हुए अंततः एक स्कूल में अध्यापिका की नौकरी पा ली। उसने डेनिश भाषा सीखी, नागरिकता प्राप्त की और धीरे-धीरे इस देश को भी अपना बना लिया।

पचासवें और साठवें जन्मदिन के बीच का समय सबसे सुखद था। मेहनत रंग लाई थी। आर्थिक रूप से वे मजबूत हो चुके थे। डेनमार्क में उन्होंने अपना घर और एक समरहाउस खरीदा, भारत में भी एक फ्लैट और ज़मीन ली। बच्चे

बड़े हो गए, उच्च शिक्षा के लिए घर से दूर चले गए। उनके ग्रेजुएशन समारोह में शिरकत करने के लिए वह प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में गई। जब उसने अपने बच्चों को काली पोशाक पहने, उपाधि ग्रहण करते देखा, तो उसकी आँखों में गर्व और खुशी के आँसू छलक पड़े। माँ बनने का सच्चा सुख बच्चों की सफलता में ही तो निहित होता है!

फिर बच्चों की ज़िंदगी में उनके जीवनसाथी आए। उसने और प्रमोद ने उन्हें खुले दिल से अपनाया, उनकी खुशी में अपनी खुशी देखी। भारत जाकर देहरादून में बड़ी धूमधाम से शादियाँ कीं। जल्द ही वे प्यारे-प्यारे पोते-पोतियों के नाना-नानी और दादा-दादी बन गए।

साठवें से सत्तरवें जन्मदिन तक का दौर एक नई शुरुआत लेकर आया। उसने पैंसठ की उम्र तक अध्यापन किया, फिर रिटायर हो गई। प्रमोद ने बहत्तर साल तक काम किया। रिटायरमेंट के बाद भी वे दोनों सक्रिय रहे। दुनिया घूमी, भारत में लंबा वक्त बिताया, रिश्तेदारों से मिलते-जुलते रहे। अब वापसी की कोई जल्दी नहीं थी।

डेनमार्क में वरिष्ठ नागरिकों के लिए उपलब्ध रियायती सुविधाओं का पूरा आनंद उठाया। बैडमिंटन क्लब, स्विमिंग क्लब, वॉकिंग ग्रुप, यहाँ तक कि कपल डांस क्लास भी जॉइन की। पाककला को निखारने के लिए यूट्यूब पर नई-नई रेसिपी देखीं और तरह-तरह के व्यंजन बनाए। साइकिलिंग भी खूब की—लंबी यात्राएँ कीं, खुली हवा में जीवन को महसूस किया। दो साल पहले तक वह साइकिल चलाती थी, लेकिन डॉक्टर की सख्त हिदायत के बाद उसे यह बंद करना पड़ा।

अब अस्सी की उम्र में शरीर भले ही कमजोर पड़ रहा हो, लेकिन आत्मा अब भी उत्साह से भरी थी। हाँ, कुछ व्याधियाँ आई थीं, पर जीवन अब भी खूबसूरत था। प्रमोद का साथ, एक लंबा साथ! बाईस की उम्र में जब दोनों विवाह बंधन में बंधे थे, तब से लेकर अब तक हफ्ते, महीने, साल, दशक गुजर गए। उन्होंने अपने विवाह की सिल्वर जुबली और फिर गोल्डन जुबली भी मनाई।

बच्चे जब घर से निकल गए, तो वे दोनों अकेले रह गए। योगा करते, खाना बनाते, टीवी पर फिल्में देखते, टहलने जाते, और यूँ ही बैठकर गुफ्तगू करते। क्या खोया, क्या पाया, इस पर चर्चा करते। भविष्य के बारे में सोचते—क्या भारत में एक सीनियर सिटीजन होम बुक कर लें? जब जीवन की गाड़ी अपने दम पर नहीं खींच पाएँगे, तब वहाँ चले जाएँगे? इस पर भी विचार होता कि इस देश में, जहाँ अपने करीबी रिश्तेदार नहीं हैं, क्या यहाँ बुढ़ापा बिताना सही रहेगा?

बच्चों के पास समय नहीं था उनकी देखभाल करने का, और डेनमार्क के ओल्ड-एज होम में रहने का विचार उनके लिए कभी उपयुक्त नहीं लगा। उनका खानपान, रहन-सहन, जीवनशैली—सब कुछ डेनिश संस्कृति से अलग था। मगर अभी हालात इतने विकट नहीं थे। वे एक-दूसरे का सहारा बने, जीवन की इस संध्या को साथ निभाते हुए आगे बढ़ रहे थे।

जिन्दगी भर उन्होंने डेनिश सरकार को तगड़ा टैक्स दिया था, और अब कम्यून से मिलने वाली मदद उनके लिए किसी संजीवनी से कम नहीं थी। हफ्ते में दो दिन एक सहायता कर्मचारी उनके घर आता, पूरे घर की सफाई करता, दवाइयों का इंतजाम करता और जरूरत की बाकी चीज़ें व्यवस्थित कर जाता। कभी-कभार वे अपने एक कमरे को किराए पर भी दे देते, जिससे किसी युवा का साथ उन्हें थोड़ी ताजगी और नयापन महसूस कराता। बच्चे फोन पर हालचाल पूछते रहते, जितनी मदद दूर रहकर कर सकते थे, उतनी करते। लेकिन फिर भी, बच्चों की गैरमौजूदगी उनके जीवन में एक अदृश्य खालीपन भर रही थी।

इसी दौरान, उसके और प्रमोद के बीच एक अनकही आत्मीयता जन्म लेने लगी। ऐसा लगता जैसे वे युगों-युगों से एक-दूसरे को जानते हैं। जीवन अपनी लय में चल रहा था, फिर भी उस बड़े से बंगले में एक अजीब सा सन्नाटा था—एक खालीपन, जो वक्त के साथ और गहरा होता जा रहा था। विशाल घर अब काट खाने को दौड़ता।

आख़िरकार, उन्होंने सोचा-समझा, बच्चों से सलाह-मशविरा किया और बंगला बेच दिया। इसके बदले, एक सुविधाजनक इलाके में तीन बेडरूम का फ्लैट ले लिया, जहाँ हर ज़रूरत की चीज़ पास में उपलब्ध थी। उनके आवासीय परिसर में ही एक छोटा सा बाजार था—फ्यूटेक्स सुपरमार्केट, बेकरी, हेयर ड्रेसर,

पोस्टऑफिस और फूलों की दुकान। अब न तो भारी सामान लाने की चिंता थी, न ही दूर जाने की ज़रूरत। ज़िन्दगी ने फिर एक नया मोड़ लिया था—छोटा सुव्यवस्थित, सादा घर मगर संतोषजनक।

दोनों बच्चों ने उन्हें अपने पास रहने को बहुत बार कहा। वे उनके पास कई दफा गए मगर हमेशा के लिए उनके साथ रहने का मन नहीं बना पाए। भारत में प्रमोद और उसका अपना लम्बा-चौड़ा कुटुंब है। कुछ भाईबहन इस जग से अलविदा हो गये, कुछ इतने बूढ़े कि खुद को ही नहीं सम्भाल पाते। भतीजे-भतीजियाँ अपनी जिन्दगी में ही उलझे रहते हैं। वे अपने माता-पिता को देख ले, वही काफी है। वे भारत जाकर किसी पर बोझ नहीं बनना चाहते, वहाँ की सरकार पर भी नहीं। सो वे जहाँ थे, वही टिके रहें।

विचारों की श्रृंखला अनवरत बह रही थी। चलते-चलते उसने आकाश की ओर निगाह उठाई। सूरज अपनी सुनहरी किरणों से गगन को रंग रहा था, मानो उसके जीवन के इस नए अध्याय का स्वागत कर रहा हो। उसने गहरी साँस ली और हल्के कदमों से वापस घर की ओर बढ़ चली।

xxx

टहल कर लौटी तो देखा, उसके घर के सामने एक टैक्सी आकर रुकी थी। उत्सुकता से उसने गौर किया—टैक्सी से उतरने वाले चेहरे परिचित थे। उसका बेटा अनूप, बहू, और प्यारे पोता-पोती! वह एक पल को ठिठक गई। क्या सचमुच वे उसके सामने खड़े हैं?

"हैप्पी बर्थडे, माँ!" अनूप आगे बढ़ा और उसे प्यार से गले लगा लिया।

"हैप्पी बर्थडे, दादी!" कहते हुए पोता-पोती भी उससे लिपट गए।

रेनुका की आँखें नम हो गईं। उसने बार-बार अपने बच्चों और पोता-पोती को छूकर देखा, जैसे यकीन करना चाहती हो कि यह कोई सपना नहीं, बल्कि हकीकत है। सबसे ज़्यादा खुशी उसे अपने युवा पोता-पोती को देखकर हुई।

बहू मुस्कुराई, "हमने इन्हें पिछले साल ही कह दिया था कि दादी के अस्सीवें जन्मदिन के लिए अपनी छुट्टियाँ बचाकर रखना।"

रेनुका ने आश्चर्य से कहा, "तुमने बताया ही नहीं कि तुम आ रहे हो!"

अनूप ने हँसते हुए जवाब दिया, "भला कैसे नहीं आते, माँ! यह तुम्हारा माइलस्टोन बर्थडे है।"

बहू ने चहककर कहा, "हम आपको सरप्राइज़ देना चाहते थे।"

रेनुका ने प्यार भरी झिड़की दी, "बहुत सरप्राइज़ मिले हैं बेटा, ज़िन्दगी में! अगर मुझे पता होता कि तुम आ रहे हो, तो कुछ खास पकाकर रखती।"

वे सब ऊपर पहुँचे तो देखा, प्रमोद रसोई में जुटे हुए थे। बूढ़े हाथ मगर हौसले से भरे, वे तन्मयता से कुछ बना रहे थे।

रेनुका ने अपनी बात दोहराई, "अगर मुझे पता होता कि तुम आ रहे हो, तो मैं कुछ बना लेती, टहलने नहीं जाती..."

प्रमोद ने मुस्कराकर आश्वासन दिया, "अरे, सब कुछ पक जाएगा... तुम बेफिक्र रहो!"

इस उम्र में भी उनमें वही पुराना जज़्बा था।

"शाम को सिम्मी भी पहुँच रही है, " प्रमोद ने बताया।

रेनुका का आश्चर्य और भी बढ़ गया, "सिम्मी भी आ रही है!"

पोता हँसते हुए बोला, "दादी, आपको नहीं पता? दादाजी तो आपके जन्मदिन को लेकर सबसे ज़्यादा एक्साइटेड हैं!"

रेनुका गदगद हो गई। महीनों से वीरान पड़ा घर अचानक चहकने लगा था। कहकहों, हंसी-मज़ाक और अपनों की गर्माहट से घर स्पंदित हो उठा।

शाम को सभी लोग जमकर तैयार हुए और उसे एक रेस्टोरेंट ले गए। वहाँ पहुँचते ही रेनुका को एक और सरप्राइज़ मिला। भारतीय मित्र मंडली के सभी चेहरे वहाँ मौजूद थे—सपना, आनंद, जरीन, हसनेन, रितु, अनिल, एकता, सुभाष, वन्या, सचिन, स्मिता, रोबिन, चित्रा, वेंकट और लीला। उनकी दो प्रिय डेनिश मित्र ऐना और डेनियेला भी वहाँ थीं, जिनके साथ उसने वर्षों तक एक ही स्कूल में काम किया था। ये सभी लोग उनकी ज़िंदगी का हिस्सा रहे थे—उनके सुख-दुख के साथी।

सभी ने एक साथ तीन भाषाओं में नारा लगाया—

"हैप्पी बर्थडे! जन्मदिन मुबारक! टिल्लयूका!"

रेनुका ने हैरानी से अपने पति और बच्चों की ओर देखा। वे मुस्कुराए।

"कब से इसकी तैयारी चल रही है?"

सपना हँसते हुए बोली, "रेनुका जी, चार महीनों से!" उसने अपना फोन

दिखाते हुए कहा, "देखिए, प्रमोद जी ने आपके अस्सीवें जन्मदिन के लिए एक खास व्हाट्सएप ग्रुप बनाया था। हम सभी को इनवाइट किया गया था और वहीं सब कुछ प्लान किया गया।"

रेनुका और भी चकित रह गई।

फिर वही तीनों भाषाओं में गूंज उठा—

"हैप्पी बर्थडे! जन्मदिन मुबारक! टिल्लयूका!"

भावनाओं से भरी रेनुका ने भी तीनों भाषाओं में आभार प्रकट किया, "थैंक यू, धन्यवाद, थक!"

उन्होंने केक काटा, और पूरा रेस्टोरेंट तालियों से गूंज उठा। सबने मिलकर हिंदी का प्रचलित जन्मदिन गीत गाया—

"बार-बार ये दिन आए, बार-बार दिल ये गाए..."

रेनुका ने एक बार फिर अपने परिवार और दोस्तों की ओर देखा। वे सब खुश थे, और उसकी आँखों में आंसू थे—खुशी के, कृतज्ञता के, और इस अहसास के कि अस्सी बसंत पार करने के बाद भी ज़िंदगी में अप्रत्याशित आनंद की गुंजाइश बनी रहती है।

चॉकलेट्स, केक और मोमबत्तियों के साथ उसका जन्मदिन एक बार फिर धूमधाम से मनाया गया। जैसे ही एक-एक कर सभी उससे गले मिले, उसकी आँखें नम हो गईं। यही था उसका अपना छोटा सा भारतीय संसार, जो विदेश में भी परिवार से बढ़कर था। ये थे उसके अपने लोग—सुख-दुख के साथी, जीवन की धड़कन।

बढ़िया सजावट, लजीज भोजन और मधुर संगीत—सब कुछ परफ़ेक्ट था। माहौल में ख़ुशनुमा गहमागहमी थी। हर कोई उसे बधाइयाँ दे रहा था, उपहार दे रहा था, और वह मुस्कराते हुए उन्हें समेट रही थी। फिर एक बड़ा सरप्राइज़ सामने आया—उसके जीवन से जुड़ी यादगार घटनाओं का एक खूबसूरत वीडियो! जैसे-जैसे स्क्रीन पर उसकी ज़िंदगी के अनगिनत रंग उभरते गए, आँखों में बीते वर्षों की तस्वीरें उतरती गईं।

फिर शुरू हुआ असली जश्न—नृत्य का! सपना, जरीन और रितु मंच पर थीं, उनकी लयबद्ध अदाओं ने समां बांध दिया। एकता, स्मिता और वन्या भी झूमने लगीं। संगीत की धुन और तालियों की गूँज में माहौल पूरी तरह जीवंत हो उठा।

अचानक किसी ने उसे भी खींच लिया। वह हंस पड़ी, झिझकी, लेकिन फिर ठहरना मुमकिन नहीं था। उसके भीतर छिपी चिरयुवा आत्मा ने उसकी उम्र को ठेंगा दिखा दिया! साठ से पचासी के बीच के ये सब दोस्त—एक-दूसरे का हाथ पकड़कर मस्ती में झूम रहे थे, जैसे उम्र की कोई बंदिश ही न हो।

एकाएक उसे भी जोश चढ़ गया। उसने बीचों-बीच खड़े होकर जोर से हाथ हिलाए और चहक उठी,

"अरे, यह ज़िंदगी जीने के लिए है! उम्र की ऐसी-तैसी! तू झूम... झूम... झूम!"

एक पल की चुप्पी के बाद हॉल तालियों और हँसी से गूंज उठा। "वाह! रेनुका जी कमाल हैं!" कई लोगों ने उत्साह से पुकारा। और फिर क्या था—जो बैठे थे, वे भी उठ खड़े हुए! हॉल में हर कोई झूमने लगा। उम्र कोई बंधन नहीं थी, बस एक संख्या थी!

रात के बारह बज चुके थे, लेकिन किसी के चेहरे पर थकान का नामोनिशान नहीं था। अंत में जब पार्टी अपने आख़िरी पड़ाव पर पहुँची, तो रेनुका ने एक-एक को गले लगाकर प्यार भरा धन्यवाद दिया। फिर वह धीरे-धीरे प्रमोद के पास गई।

प्रमोद ने स्नेह से उसकी ओर देखा, जैसे कह रहे हों—'तुम्हारी खुशी ही मेरी सबसे बड़ी खुशी है।"

रेनुका के मन में बीते दशकों की स्मृतियाँ उमड़ आईं—संघर्ष, तरक्की, दुःख, कष्ट, हँसी-आँसू, प्यार और साथ। उसने हाथ जोड़कर सिर झुका लिया। प्रेम व कृतज्ञता से प्रमोद के सामने नतमस्तक हो गई।

"तुम्हारे साथ जीए हुए हर लम्हे की कीमत जानती हूँ, " उसकी आँखों में भावनाओं का सागर था। प्रमोद ने हल्के से उसकी हथेलियों को थाम लिया।

ईश्वर को याद करते हुए वह मन ही मन बुदबुदाई, "हे भगवान! अस्सी बसंत देख लिए हैं। बस आगे की ज़िंदगी भी इन्हीं अपनों के बीच, इसी तरह हँसते-गाते, चलते-फिरते कट जाए..."

हॉल में अब भी हल्की संगीत की धुन बज रही थी, और रेनुका के चेहरे पर एक शांति थी—संतोष की, प्रेम की और एक भरपूर जीवन जी लेने की।

(Islevhusvej 72 B
Copenhagen, 2700 Bronshoj
Denmark)

गजलें

— प्रवीण पारीक 'अंशु'

1.

दूसरों का ग़म नहीं तू बाँट पाया, किसलिए ?
तो बता आख़िर यहाँ दुनिया में आया किसलिए ?

ज़िंदगी ने तो ख़ुशी के गीत लिक्खे थे मगर
तुमने केवल दर्द को ही गुनगुनाया किसलिए ?

बाँट लेते ग़म तुम्हारा कह तो देते एक बार
आपने भी दर्दे दिल हमसे छुपाया किसलिए ?

क्रोध, लालच, वासना को तुम जला पाए नहीं
कागज़ों का व्यर्थ ही पुतला जलाया किसलिए ?

मैं जहां में ढूँढता रहता हूँ मुस्कानें मगर
अश्क़ ही मिलते रहे मुझको खुदाया, किसलिए ?

काम लोगों का है पत्थर फैंकना ही जब यहाँ
आपने फिर काँच का ये घर बनाया किसलिए ?

2.

किसी के कट रहे दिन बेबसी में
मज़े कुछ ले रहे हैं ज़िंदगी में

अँधेरों में बनाता राह कोई
कोई भटका हुआ है रोशनी में

हज़ारों ख़्वाब आँखों में जगे थे
बजे थे रात के बारह, घड़ी में

वही बचपन ख़यालों में बसा है
जिसे मैं छोड़ आया था गली में

सियासी लीडरों की तुम न पूछो
चलाते नाव हैं सूखी नदी में

सुनहरे ख़्वाब पलते हों न, तो फिर
रखा है क्या भला, उस ज़िन्दगी में

3.

हर शख़्स ज़माने में, ग़म-ख़्वार नहीं होता
हर पेड़ यहाँ प्यारे, फलदार नहीं होता

कुछ दीप जलाते हैं, कुछ रंग लगाते हैं
क्यूँ मेरे मुकद्दर में, त्योहार नहीं होता

कुछ ऐसे हैं गौतम जो, घर छोड़ निकल जाते
कुछ ऐसे भी हैं जिनका, घर-बार नहीं होता

कुछ यार ज़माने में मिलते बड़ी मुश्किल से
जीवन में करिश्मा ये, हर बार नहीं होता

नज़राना वफ़ा का ये, जो तुमने दिया मुझको
इससे तो बड़ा कोई, उपहार नहीं होता

दुनिया ने हमेशा ही, इनकार किया मुझको
मुझसे ही न जाने क्यूँ, इनकार नहीं होता

4.

ज़िगर पे चोट खाए जा रहा है वो
मगर सबको हँसाए जा रहा है वो

भले है आँधियों से दुश्मनी उसकी
दिया फिर भी जलाए जा रहा है वो

यहाँ तो फूल देता जा रहा हूँ मैं
वहाँ काँटे चुभाए जा रहा है वो

नज़र भर देखता हूँ मैं जिसे यारो
नज़र मुझसे चुराए जा रहा है वो

मिली ये ज़िन्दगी अनमोल है, लेकिन
धुएँ में ही उड़ाए जा रहा है वो

ज़रा सा झाँक ले भीतर भी तो अपने
मेरी ग़लती गिनाए जा रहा है वो

5.

वो यार अब नहीं रहे, वो दोस्ती नहीं रही
दियों में अब वो पहले जैसी रोशनी नहीं रही

भले मिली न मंजिलें मगर यही सुकून है
हमारी मेहनतों में तो कहीं कमी नहीं रही

बदल गया है इस तरह ज़माना आज देखिए
ख़ुदा न वो ख़ुदा रहा, वो बंदगी नहीं रही

कभी -कभी ये सोचता हूँ जाने क्या हुआ मुझे
मिला है ज़िन्दगी में सब, मगर ख़ुशी नहीं रही

कुछ इस तरह समा गई है मीरा अपने कृष्ण में
मिली जो सिंधु में तो फिर नदी, नदी नहीं रही।

पेड़ का अस्तित्व

— जय वर्मा

मेरा भी है अस्तित्व कहीं
पेड़ ने एक दिन बतलाया
पत्तों के मन्द झकोरों ने
प्रेम से बार-बार दोहराया

धन्य वसुधा की सहनशीलता
चन्दन का यह धीर
उद्यान-वाटिका में खड़ा हुआ
सीना तानकर परमवीर

कुहकती कोयल डाली-डाली
मधुर-कोमल गीत सुनाती
ललित लता निःसंकोच
वृक्ष-शाखाओं से लिपट जाती

अरण्य में बनकर सजग प्रहरी
खड़ा हूँ सदियों से यहाँ
सुस्ताते हैं राही आकर
ऐसी छाया मिलती और कहाँ

विहग मेरे आँगन में आते
तन पुलकित मन हर्षित होता
मंजुल स्वप्नों के उपवन में
तन-मन आह्लादित है होता

अभिनंदन करता मेरा हृदय
देख प्रकृति का कार्य महान्
पर्यावरण में नि:स्वार्थ आस्था
औषध करता नित्य प्रदान

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

सदस्यता शुल्क फार्म

प्रिय महोदय,

कृपया गगनांचल पत्रिका की एक साल/तीन साल की सदस्यता प्रदान करें।

बिल भेजने का पता
....
....
....
....

पत्रिका भिजवाने का पता
....
....
....
....

विवरण	शुल्क				प्रतियों की सं.	रुपये/US$
गगनांचल वर्ष	एक वर्ष	₹ US$	500 100	(भारत) (विदेश)		
	तीन वर्षीय	₹ US$	1200 250	(भारत) (विदेश)		
कुल	छूट, पुस्तकालय पुस्तक विक्रेता		10% 25%			

मैं इसके साथ बैंक ड्राफ्ट सं. .... दिनांक ....

रु./US$ .... बैंक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, नई दिल्ली के नाम भिजवा रहा/रही हूँ।

कृपया इस फॉर्म को बैंक ड्राफ्ट के साथ
निम्नलिखित पते पर भिजवाएँ :
कार्यक्रम निदेशक (हिंदी)
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002, भारत
फोन नं. 011-23379309, 23379310

हस्ताक्षर और स्टैंप ....

नाम ....

पद ....

दिनांक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

प्रकाशन एवं मल्टीमीडिया कृति

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद द्वारा गत 47 वर्षों से हिंदी पत्रिका गगनांचल का प्रकाशन किया जा रहा है, जिसका मुख्य उद्देश्य देश के साथ-साथ विदेशों में भी भारतीय साहित्य, कला, दर्शन तथा हिंदी का प्रचार-प्रसार करना है तथा इसका वितरण देश-विदेश में व्यापक स्तर पर किया जाता है।

इसके अतिरिक्त परिषद ने कला, दर्शन, कूटनीति, भाषा एवं साहित्य, विभिन्न विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों जैसे महात्मा गाँधी, मौलाना आजाद, नेहरू व टैगोर की रचनाएँ परिषद की प्रकाशन योजना में गौरवशाली स्थान रखती हैं। प्रकाशन-योजना विशेष रूप से उन पुस्तकों पर केंद्रित है, जो भारतीय संस्कृति, दर्शन तथा पौराणिक कथाओं, संगीत, नृत्य और नाट्यकला से संबद्ध हैं।

परिषद द्वारा भारत में आयोजित अंतरराष्ट्रीय महोत्सवों के अंतर्गत सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा विदेशी सांस्कृतिक दलों द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रमों की वीडियो रिकॉर्डिंग तैयार की जाती है। इसके अतिरिक्त परिषद ने ध्वन्यांकित संगीत के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर दूरदर्शन के साथ मिलकर ऑडियो कैसेट एवं डिस्क की एक श्रृंखला का संयुक्त रूप से निर्माण किया है।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद की स्थापना, सन् 1950 में स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद द्वारा की गई थी। तब से अब तक, हम भारत में लोकतंत्र की दृढ़ीकरण, न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास, महिलाओं का सशक्तीकरण, विश्व-स्तरीय शैक्षणिक संस्थाओं का सृजन और वैज्ञानिक परम्पराओं का पुनरुज्जीवन देख चुके हैं। भारत की पांच सहस्राब्दि पुरानी संस्कृति का नवजागरण, पुनः स्थापना एवं नवीनीकरण हो रहा है, जिसका आभास हमें भारतीय भाषाओं की सक्रिय प्रोन्नति, प्रगति एवं प्रयोग में और सिनेमा के व्यापक प्रभाव में मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, विकास के इन आयामों से समन्वय रखते हुए, समकालीन भारत के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही है।

पिछले पांच दशक, भारत के लम्बे इतिहास में, कला के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। भारतीय साहित्य, संगीत व नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व शिल्प और नाट्यकला तथा फिल्म, प्रत्येक में अभूतपूर्व सृजन हो रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद, परंपरागत के साथ-साथ समकालीन प्रयोगों को भी लगातार बढ़ावा दे रही है। साथ ही, भारत की सांस्कृतिक पहचान-शास्त्रीय व लोक कलाओं को विशेष सम्मान दिया जाता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद सहभागिता व भाईचारे की संस्कृति की संवाहक है, व अन्य राष्ट्रों के साथ सृजनात्मक संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए परिषद ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति की समृद्धि एवं विविधता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

भारत और सहयोगी राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक व बौद्धिक आदान-प्रदान का अग्रणी प्रायोजक होना, परिषद के लिए गौरव का विषय है। परिषद का यह संकल्प है कि आने वाले वर्षों में भारत के गौरवशाली सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आंदोलन को बढ़ावा दिया जाए।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

महानिदेशक	**23378103, 23370471**
उप-महानिदेशक (प्रशासन)	**23370784, 23379315**
उप-महानिदेशक (संस्कृति)	**23379249, 23370794**
हिंदी अनुभाग	**23370237, 23379309–10** **एक्स. 2256/2272**

गगनांचल

पंजीयन संख्या, आर.एन/32381/78
ISSN-0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद के प्रकाशन

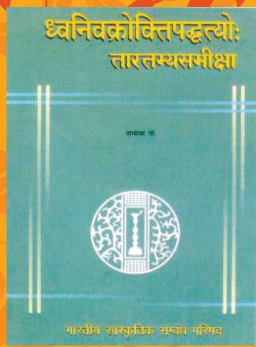

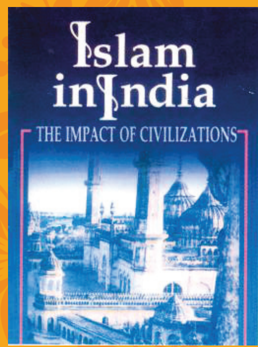

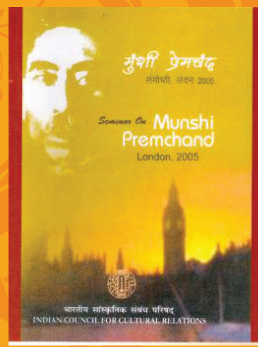

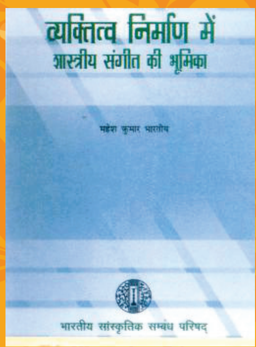

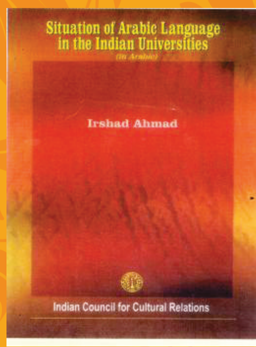

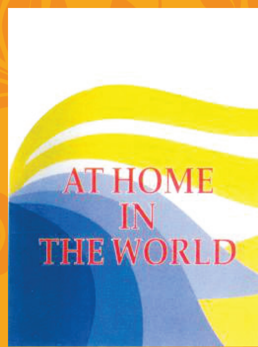

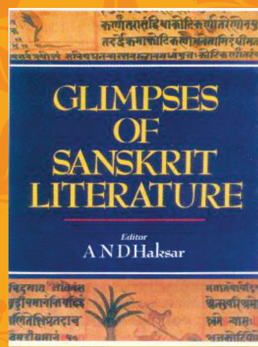

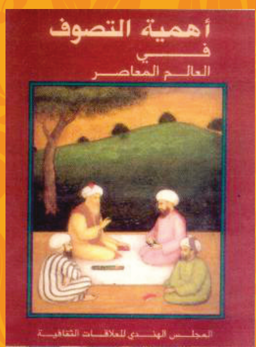

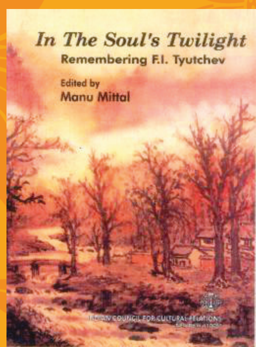

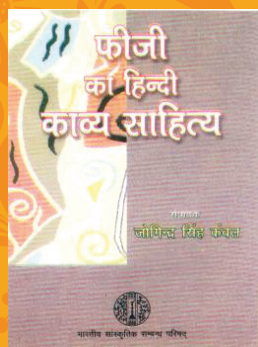

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद

फोन : 91-11-23379309, 23379310
ईमेल : pohindi.iccr@nic.in
वेबसाइट : www.iccr.gov.in

Indian Council for Cultural Relations
भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद्